तुलसी प्रज्ञा

TULSÍ PRAJÑÁ

वर्ष 34 • अंक 132-133 • जुलाई-दिसम्बर, 2006

Research Quarterly

अनुसंधान त्रैमासिकी

जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूँ
(मान्य विश्वविद्यालय)
JAIN VISHVA BHARATI INSTITUTE, LADNUN
(DEEMED UNIVERSITY)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुलसी प्रज्ञा

TULSI PRAJÑĀ

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

Vol. : 132-133 JULY - DECEMBER, 2006

Patron
Samani Dr Mangalprajna
Vice-Chancellor

Editor in
Hindi Section
Dr Mumukshu Shanta Jain

English Section
Dr Jagat Ram Bhattacharyya

Editorial-Board
Dr Mahavir Raj Gelra, Jaipur
Prof. Satya Ranjan Banerjee, Calcutta
Dr R.P. Poddar, Pune
Dr Gopal Bhardwaj, Jodhpur
Prof. Dayanand Bhargava, Ladnun
Dr Bachh Raj Dugar, Ladnun
Dr Hari Shankar Pandey, Ladnun
Dr J.P.N. Mishra, Ladnun

Publisher :
Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun-341 306

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

VOL.-132-133 JULY — DECEMBER, 2006

Editor in Hindi
Dr Mumukshu Shanta Jain

Editor in English
Dr Jagat Ram Bhattacharyya

Editorial Office
Tulsī Prajñā, Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)
LADNUN-341 306, Rajasthan

Publisher : Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)
Ladnun-341 306, Rajasthan

Type Setting : Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)
Ladnun-341 306, Rajasthan

Printed at : Jaipur Printers Pvt. Ltd., Jaipur-302 015, Rajasthan

The views expressed and facts stated in this journal are those of the writers, the Editors may not agree with them.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनुक्रमणिका/CONTENTS

हिन्दी खण्ड

विषय	लेखक	पृष्ठ सं.
सापेक्षता और अनेकांत : विज्ञान और दर्शन	प्रो. दयानन्द भार्गव	1
पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में अहिंसा-विमर्श	प्रोफेसर प्रेम सुमन जैन	21
नर-लोक से किन्नर-लोक तक	जतनलाल रामपुरिया	33
सिद्धों के अनेक भेदों का प्रतिपादन	साध्वी श्रुतयशा	41
भगवती आराधना में निदान वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में	डॉ. पारसमल अग्रवाल	47
तीर्थंकरों की मूर्तियों पर उकेरित चिह्न	डॉ. उमाकान्त पी. शाह	56
कारण का स्वरूप : जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में	सुश्री श्वेता जैन	63
अपरिग्रह एवं उसका लोकोपकारी स्वरूप	सुमत जैन	72

अंग्रेजी खण्ड

Subject	Author	Page No.
Ācārāṅga-Bhāṣyam	Ācārya Mahāprajña	81
Specialized Functions ...	Dr J.P.N. Mishra and Dr M.K. Singh	91
Jain Business Ethics ...	Samani Shashi Prajna	103

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्षमा

क्षमा का अर्थ है— सहना। सहना पड़े, वह सामर्थ्यहीनता है। सहने को अपना धर्म मानकर, विरोधी भाव को सहना क्षमा है।

क्षमा शक्तिशाली का अस्त्र है।

अपनी शक्ति के उन्माद पर नियन्त्रण रखना क्षमा है।

परिस्थितियों की प्रतिकूलता में उत्तेजित न होना क्षमा है।

दूसरों को क्षमा देना नहीं जानता, वह तुच्छ है।

दूसरों से क्षमा लेना नहीं जानता, वह उद्दण्ड है।

शान्ति उसे मिलती है, जिसके हृदय में क्षमा का सागर लहराए।

दूसरों की कमजोरियों, अपराधों और भूलों को भुला सके, वही आनन्द का स्रोत बन सकता है।

अपने अपराधों के लिए क्षमा मांगने में जो न सकुचाए, वह महान है।

शान्तिदूत वही है, जो अपनी भूलों से उत्पन्न वेदना को भुला देने का नम्र अनुरोध करे।

— अनुशास्ता आचार्य महाप्रज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सापेक्षता और अनेकांत : विज्ञान और दर्शन

— प्रोफेसर दयानन्द भार्गव

मानव जाति के इतिहास में जो क्रांन्तियां हुईं उनेक अनेक स्रोत हैं। महावीर, बुद्ध और ईसा धर्म के माध्यम से वैचारिक क्रान्ति लाये। कालमार्क्स आर्थिक और राजनैतिक मंच से क्रान्ति लाये। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में एक क्रान्ति विज्ञान के माध्यम से आयी। 1605 ई. में अल्बर्ट आईन्सटीन ने सापेक्षता के लिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसने हमारी देश-काल संबंधी अवधारणाओं में ऐसे आमूलचूल परिवर्तन किये जिससे दार्शनिक चिन्तन भी अछूता नहीं रह सकता। Encyclopedia Britenica के अनुसार 18 वीं शताब्दी तक साथ-साथ चलने वाले दर्शन और विज्ञान 16 वीं शताब्दी में अलग-अलग हो गये थे किन्तु सापेक्षता के सिद्धान्त ने उन्हें बीसवीं शताब्दी में परस्पर जोड़ दिया।

देश-काल-युति

दर्शन के अध्येताओं से बात छिपी नहीं है कि देश और काल की अवधाराणाएं हमारी चिन्तन प्रणाली के मूल में रहती हैं और इसलिए यदि हमारी देशकाल संबंधी अवधारणायें बदल जाये तो हमें अपने पूरे चिन्तन को बदलना पड़ सकता है। सापेक्षता के सिद्धान्त ने यही किया। जैसा कि आईन्स्टीन के गणित के अध्यापक Heemann Minowski ने कहा है-सापेक्षता सिद्धान्त के बाद अपने आप में देश और काल केवल एक छाया मात्र हर गये हैं। जो आज अस्तित्व में है-वह इन दोनों का समन्वित रूप है।

पदार्थ की लम्बाई और काल-दोनों सापेक्ष है

हमें देश और काल को अलग-अलग रूप में देखने का दीर्घकालिक अभ्यास है। इसलिए कहा जाता है कि देश और काल की सत्ता पृथक्-पृथक् नहीं है, बल्कि समन्वित है-तो यह बात हमारे सिर के ऊपर से गुजर जाती है। दूसरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आघात हमारे चिन्तन को उससे भी अधिक गहरा तब लगता है जब हमें यह कहा जाता है कि कोई छड़ कितनी लंबी है अथवा किन्हीं दो घटनाओं के बीच में कितना समय बीता-यह इस बात पर निर्भर करता है कि उस लम्बाई व समय को देखने वाला व्यक्ति कितनी तीव्र अथवा मंद गति से चल रहा है। हमारे मन में यह धारणा बद्धमूल है कि एक मीटर लम्बी छड़ हर परिस्थिति में एक मीटर ही लम्बी रहेगी और हमारी घड़ी की सुई के द्वारा दिखाया गया एक सेकेण्ड सदा एक सेकण्ड ही रहेगा। किन्तु सापेक्षता के सिद्धान्त ने हमें बताया कि हमारी यह धारणा सत्य नहीं है।

देखना यह है कि इस निष्कर्ष पर वैज्ञानिक कैसे पहुंचे और देशकाल की अवधारणा के परिवर्तन से हमारे चिन्तन में कितना बड़ा क्रान्तिकारी परिवर्तन आने की संभावना बन गयी। ज्यों-ज्यों हम सापेक्षता के सिद्धान्त की गहराई में जायेंगे त्यों-त्यों यह बात स्पष्ट होती दिखायी देगी कि इस खोज में हमारे पूरे चिन्तन को बदल देने की क्षमता अन्तर्निहित है।

जैन-सम्मत सापेक्षता

देश और काल पर प्राय: सभी भारतीय दर्शनों में विचार हुआ है किन्तु देश और काल संबंधी अवधारणा को सापेक्षता से जोड़कर जितना चिन्तन जैन परम्परा में हुआ उतना शायद किसी दूसरी परम्परा में नहीं हुआ। जैन परम्परा वस्तुवादी है और बहुत्ववादी है। जड़ के क्षेत्र में पुद्गल के अनन्तानत परमाणु हैं और वे एक-दूसरे से अलग-अलग है। इसी प्रकर चेतना के क्षेत्र में अनन्तान्त जीव भी एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् अपना अस्तित्व रखते हैं। जैन चिन्तन के अनुसार एक का दूसरे से यह पृथक्त्व चार दृष्टियों से बनता है- द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अर्थात् स्वचतुष्ट्य की अपेक्षा है किन्तु पर चतुष्ट्य की अपेक्षा नहीं है। इसी को एक अपेक्षा से होना-स्याद् अस्ति और दूसरी अपेक्षा से न होना-स्यान् नास्ति कहा जाता है। इसी आधार पर एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ से पृथक् किया जाता है।

सापेक्षता का एक दूसरा पक्ष यह है कि पदार्थ में अनन्त धर्म रहते हैं जिसमें जब हम किसी एक धर्म को बताते हैं तो शेष धर्मों को गौण कर देते हैं जिसका यह अर्छ नहीं समझना चाहिए कि शेष धर्म हैं ही नहीं, यह केवल हमारी भाषा की सीमा है कि हम युगपद् सभी धर्मों को नहीं कह सकते, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उन धर्मों का अस्तित्व भी नहीं है। जब हम यह कहते हैं कि यह वस्त्र काला है तो हमारे इस वक्तव्य की कुछ सीमाएं हैं। प्रथम सीमा तो यह है कि हम इस वाक्य के द्वारा केवल वस्त्र का रूप बता रहे हैं किन्तु हमें यह पता है कि वस्त्र का रस, गंध और स्पर्श भी है। दूसरी सीमा यह है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब हम उसे काला कह रहे हैं तो यह एक सापेक्ष वर्णन भी हो सकता है और यदि कोई दूसरा वस्त्र उसे इतना अधिक काला हो तो शायद उसके मुकाबले में हम इसे अकृष्ण ही चाहें। एक तीसरी सीमा यह है कि वस्त्र के रूप में भी वस्तुत: तो सभी रंग हैं किन्तु जब हम इसे काला कहते हैं तो उसका अर्थ केवल इतना है कि दूसरे सब रंग काले रंग में दब गये हैं और होते हुए भी दिखाई नहीं दे रहे हैं। सोपक्षता का यह सिद्धान्त जैन प्रमाण मीमांसा की आत्मा है।

सापेक्षता : बौद्ध और वेदान्ती दृष्टिकोण

जैनेतर भारतीय दर्शनों में वस्तुवादी दर्शन तो थोड़े-थोड़े मतभेद सहित कहीं न कहीं अनेकान्तवाद को स्वीकार कर लेते हैं किन्तु क्षणिकवादी बौद्ध तथा मायावादी वेदान्ती को अनेकान्त कदापि स्वीकार नहीं है। डॉ. सात्करि मुखर्जी ने इस विषय का ऊहापोह करते हुए निष्कर्ष दिए। उनका कहना है कि हमारे तर्क के कुछ पक्ष स्वत: सिद्ध होते हैं और कुछ अनुभव-सापेक्ष होते हैं। उदाहरणत: यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि गुलाबी रंग लाल रंग से हल्का है तो इस वाक्य की सत्यता जानने के लिए अनुभव में जाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि गुलाबी का शब्दार्थ ही है-हल्का लाल। इसके विपरीत यदि कोई कहे कि देवदत्त का वजन 70 किलोग्राम है तो इस वाक्य की सत्यता को जांचने के लिए हमें देवदत्त को तौलना होगा, क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है कि जिस व्यक्ति का नाम देवदत्त हो उसका वजन अनिवार्य रूप से 70 किलो हो, अत: इस वाक्य की सत्यता स्वत:सिद्ध नहीं है-अपितु अनुभव गम्य है।

डॉ. मुखर्जी का कहना है कि यह सत्य स्वत: सिद्ध है कि देवदत्त है और देवदत्त नहीं है-ये दोनों वाक्य एक साथ सत्य नहीं हो सकते, क्योंकि होने और नहीं होने में परस्पर विरोध है-यह बात स्वत: सिद्ध है। जैन का कहना है कि हमें देवदत्त का स्व चतुष्ट्य से होना और पर चतुष्ट्य से नहीं होना अनुभव से प्रत्यक्ष प्रतीति में आ रहा है। देवदत्त दिल्ली में है तो जयपुर में नहीं है। यदि उसकी अवस्था 60 वर्ष है और वह 30 वर्ष और जीवित रहने वाला है तो वह जन्म से मृत्यु पर्यन्त की 60 वर्ष की कालावधि में है, उस कालावधि से पहले या बाद में नहीं है। इस प्रकार देवदत्त का अस्तित्व देश और काल से सीमित है-शास्त्रीय भाषा में देशकालावच्छिन्न है। ऐसी स्थिति में उसके अस्तित्व को सर्वकालिक और सार्वदेशिक नहीं माना जा सकता। अत: हमें यही कहना होगा कि वह एक अपेक्षा से है और एक अपेक्षा से नहीं है।

इसके विपरीत वेदान्ती और बौद्ध का कहना है कि यदि हमारे अनुभव का स्वत: सिद्ध सत्य के साथ टकराव हो जाये तो हमें अपने अनुभव की सत्यता की पड़ताल करनी चाहिए

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि कहीं हमारा अनुभव हमें धोखा तो नहीं दे रहा है। हमें प्रतिदिन अनुभव में आता है कि व्यक्ति बदलता है अर्थात् अनित्य है और हम फिर भी बदलते हुए व्यक्ति को देखकर यह नहीं मान बैठते कि वह कोई दूसरा व्यक्ति है अपितु यही मानते हैं कि भले ही वह बदल गया है किन्तु व्यक्ति वही है। इस प्रकार हमारे अनुभव में अनित्यता और नित्यता दोनों युगपद् आते हैं। किन्तु तर्क का यह तकाजा है कि कोई पदार्थ या तो नित्य होना चाहिए या अनित्य। अत: हम अपने अनुभव में आने वाली नित्यता और अनित्यता में से एक को भ्रम मान लेते हैं। अनित्यता को वेदान्त भ्रम मानता है और नित्यता को बौद्ध काल्पनिक मानता है।

जैन का कहना है कि जो प्रत्यक्ष दिख रहा है उसे किसी स्वत: सिद्ध सत्य के नाम पर भ्रम या कल्पना मान बैठना ठीक नहीं है। हमें सोचना यह चाहिए कि जिसे हम स्वत:सिद्ध सत्य कह रहे हैं, वही तो भ्रम नहीं है। हमारे अनुभव में तो निरन्तर नित्यता-अनित्यता, एकता-अनेकता, भेद-अभेद जैसे युगल आ रहे हैं। अत: दो विरोधी तत्व एक साथ नहीं रह सकते, यह कहना भी भ्रान्त है।

डॉ. मुखर्जी का कहना है कि वेदान्ती और बौद्ध तथा जैन के बीच इस मतभेद का अन्तिम निर्णय लेना कठिन है। उनके अनुसार यह मामला व्यक्तिगत पसन्द का है कि हम अनुभव के आधार पर विरोधियों के सह-अस्तित्व को स्वीकार करें या दो विरोधी एक साथ नहीं रह सकते, इसे स्वत:सिद्ध सत्य मानकर अपने अनुभव का अपलाप करें। दर्शन के क्षेत्र में सापेक्षता की चर्चा आधुनिक युग में संक्षेप में इतनी ही दूर तक गई लगती है।

विज्ञान-सम्मत सापेक्षता

इधर विज्ञान की खोजों ने सापेक्षता को कुछ नये आयाम दे दिये हैं जिनकी संक्षिप्त चर्चा करना अप्रासंगिक न होगा। पांच फुट लम्बा व्यक्ति चार फुट लम्बे व्यक्ति की अपेक्षा लम्बा है और छह फुट लम्बे व्यक्ति की अपेक्षा छोटा है-यह बात बहुत स्पष्ट है किन्तु आईन्स्टीन ने जिस सापेक्षता का वर्णन किया है वह सापेक्षता यह बिल्कुल नहीं है। आईन्स्टीन का कहना है कि पांच फुट लम्बा व्यक्ति कभी सवा पांच फुट का हो जाता है और कभी पौने पांच फुट का ही रह जाता है। इतना ही नहीं, वह व्यक्ति एक ही अवधि में कभी पचास वर्ष का हो जाता है और कभी दस वर्ष का रह जाता है। यदि हम जानना चाहें कि वह व्यक्ति वस्तुत: कितना लम्बा है तो हम यह जान ही नहीं सकते। किसी पदार्थ की वास्तविक लम्बाई को जानने का प्रयत्न ऐसा ही है जैसे किसी व्यक्ति की जमीन पर पड़ने वाली परछाई की वास्तविक लम्बाई जानने का प्रयत्न। हम केवल इतना ही बता सकते हैं कि उसकी परछाई एक निश्चित समय और स्थान पर कितनी लम्बी होती है, किन्तु यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बताना संभव नहीं है कि वह वस्तुत: कितनी लम्बी है, क्योंकि समय और स्थान के अनुसार वह लम्बाई घटती और बढ़ती रहती है। सापेक्षता का यह अर्थ करना कि एक रेखा अपने से लम्बी रेखा की अपेक्षा छोटी है और अपने से छोटी रेखा की अपेक्षा लम्बी है- बहुत सामान्य-सी बात है। डॉ. नथमल टांटिया का कहना है— यह तो ''सिद्ध साधन'' है अर्थात् जो बात पहले से ही स्पष्ट है, हम उसे तर्कों द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

आईन्सटीन के सापेक्षता सिद्धान्त ने जो तथ्य उद्घाटित किया वह सर्वथा नवीन है, अत: उसे थोड़ा विस्तार से समझना होगा। आईन्सटीन ने हमारे सामने तीन सिद्धान्त रखे-

1. कोई भी पदार्थ जैसे-जैसे अपनी गति तेज करता है उसका माप छोटा होता चला जाता है-यहां तक कि यदि वह प्रकाश की प्रति सेकेण्ड 1,86,000 मील वाली गति से चले तो उसका माप शून्य हो जाता है और वह दिखना बंद हो जाता है।
2. जैसे-जैसे पदार्थ की गति तेज होती है उसका द्रव्यमान बढ़ता जाता है यहां तक कि प्रकाश की गति पर उसका द्रव्यमान अनन्त हो जाता है।
3. जैसे-जैसे गति तीव्र होती है, समय की गति मंद होती है और प्रकाश की गति पर समय की गति सर्वथा रुक जाती है।

उपर्युक्त तीनों मान्यताएं उस दर्शक की दृष्टि से कही गयी है जो स्वयं स्थिर है और जिसकी अपेक्षा पदार्थ गति करता है किन्तु यदि दर्शक स्वयं भी पदार्थ के साथ गति करता हो तो उसके लिए समय, माप अथवा द्रव्यमान घटते-बढ़ते नहीं हैं, अपितु उतने ही रहते हैं। दूसरी बात ध्यान में देने की यह है कि उपर्युक्त मान्यताएं स्थूल स्तर पर दृष्टिगोचर नहीं होती। इन तथ्यों का प्रत्यक्षीकरण वहीं होता है जहां पदार्थ प्रकाश की गति से थोड़ी बहुत ही कम तीव्र गति से चल रहे हों।

प्रकाश की गति की निरपेक्षता

आईन्सटीन के सामने दो ऐसे तथ्य थे जिसके कारण वे उपर्युक्त तथ्यों तक सापेक्षतावाद के सिद्धान्त के आधार पर पहुंच सके -

1. यह स्पष्ट नहीं हो रहा है कि यह कहने का क्या अर्थ है कि अमुक पदार्थ चलता है और अमुक पदार्थ नहीं चलता है। चलते हुए जहाज में यदि एक व्यक्ति दूसरे कुर्सी पर बैठे व्यक्ति के पास चलकर जा रहा हो तो कुर्सी पर बैठे व्यक्ति के लिए वह व्यक्ति चल रहा है और वह स्वयं कुर्सी में बैठा हुआ स्थिर है किन्तु जहाज से बाहर खड़े हुए व्यक्ति के लिए दोनों ही चल रहे हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इससे भी आगे जायें तो स्वंय पृथ्वी केवल अपने कक्ष के ही चारों ओर एक सेकेण्ड में 18 मील की गति से घूम रही है। स्वयं सूर्य भी गैलेक्सी के चारों ओर घूम रहा है और स्वयं गैलेक्सी भी दूसरी गैलेक्सी के चारों ओर घूम रही है। इस प्रकार विश्व में कुछ भी पूर्णत: स्थिर नहीं है। अत: हम केवल एक की अपेक्षा दूसरे को स्थिर कह सकते हैं। इस बात का पता आईन्सटीन से तीन सौ वर्ष पहले गैलेलियो लगा चुका था और इस बात को समझने में कोई कठिनाई भी नहीं है।

2. आईन्सटीन के सामने गति संबंधी नयी बात आयी वह यह कि प्रकाश की गति सभी स्थितियों में समान रहती है।

प्रकाश की गति की समानता का अर्थ समझना होगा ताकि हम उससे उत्पन्न होने वाली विचित्र स्थिति को समझ सकें। कल्पना करें कि—

1. हम एक स्थान पर खड़े हैं और दूसरे स्थान पर एक बल्ब जल रहा है तो स्पष्ट है कि प्रकाश हम तक 186000 मील प्रति सेकेण्ड की गति से आयेगा। यहां तक कोई समस्या नहीं है।

2. हमे जिस ओर से प्रकाश आ रहा है-उसी ओर 1,00,000 मील प्रति सेकेण्ड की गति से चलें तो ऐसी स्थिति में प्रकाश की गति 186000+100000=286000 मील प्रति सेकेण्ड होनी चाहिए। (यदि हम रेल में यात्रा कर रहे हैं और सामने से बराबर की समानान्तर पटरी पर दूसरी रेल हमारी रेल से विपरीत दिशा में जा रही हो तो स्पष्ट अनुभव में आता है कि बराबर वाली रेल की गति बहुत तेज प्रतीत होती है-और वह रेल बहुत थोड़े से समय में हमारी रेल को पार कर जाती है, क्योंकि हमारी रेल की गति और सामने से आने वाली रेल की गति मिलकर जो गति बनती है उस गति से हमारी रेल को पार किया जाता है। अनुभव में आने वाले इसी उदाहरण के आधार पर यह कल्पना की गयी है।) आश्चर्य की बात यह है कि प्रकाश के साथ ऐसा नहीं होता-भले हम खड़े रहें अथवा प्रकाश स्त्रोत की ओर चले-प्रकाश की गति 186000 मील प्रति सेकेण्ड ही रहती है।

3. प्रकाश जिस ओर से आ रहा है हम भी उसी दिशा में 100000 मील प्रति सेकेण्ड की गति से चलें तो प्रकाश की गति 86,000 मील प्रति सेकेण्ड होनी चाहिए। (यदि हम एक रेल में एक गति से एक ओर चल रहे हैं और दूसरी रेल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी पास की समानान्तर पटरी पर उसी ओर जा रही हो और उसकी गति हमारी रेल की गति से अधिक तेज है तब भी वह रेल हमें धीमी गति से ही रेंगती हुई दिखायी देती है, क्योंकि एक ही दूरी को वह भी पार कर रही है और हमारी रेल भी पार कर रही है, अत: उस रेल की गति कम होगी। उस रेल की गति से हमारी रेल की गति घटाने पर जो गति आती है उस गति से वह रेल हमारी रेल को पार करेगी। इसी आधार पर यह बात कही जा रही है।) किन्तु ऐसा होता नहीं। इस स्थिति में भी प्रकाश की गति 186000 मील प्रति सेकेण्ड ही रहती है।

प्रकाश की गति के संबंध में उपर्युक्त तथ्य एक अबूझ पहेली बने हुए थे। उपर्युक्त तथ्य हमारी सामान्य समझ से इतने विपरीत हैं कि इन पर विश्वास नहीं होता और ये परीकथा के समान कपोल कल्पित प्रतीत होते हैं किन्तु विज्ञान में कोई भी बात बिना प्रयोग के स्वीकृत नहीं होती। 1887 में अमेरिका के दो वैज्ञानिक अल्बर्ट माइकल्सन और एडवर्ड मोर्ले ने एक प्रयोग किया जिसके आधार पर यह तथ्य सामने आये।

आईन्सटीन ने जब इस समस्या का सामना किया कि प्रकाश की गति उपर्युक्त प्रकार से सब दशाओं में समान कैसे रहती है तो उन्होंने यह निर्णय लिया कि देश और काल के संबंध में हमारी यह अवधारणा गलत है कि वह हर स्थिति में एक ही रहते हैं।

वस्तुत: गति को नापने के लिए हम समय और देश की दूरी को नापते हैं और यदि प्रकाश की गति हर स्थिति में एक ही रहती है जो कि हमारे तर्क के अनुसार नहीं रहनी चाहिए-तो इसका यह अर्थ होता है कि गति को मापने के दोनों साधन-समय और देश-काल जैसे नहीं रहते बल्कि बदल जाते हैं। समय और देश जो कि गति को मापने के साधन हैं, गति के साथ बदलते हैं। परिणामत: प्रकाश की गति हर स्थिति में समान इसलिए रहती है कि उसके नापने के साधन-देश और काल की तीव्रता के साथ बदल जाते हैं।

अभिप्राय यह है कि प्रकाश की गति में जो अन्तर हमें दिखाई देना चाहिए था वह अन्तर तभी दिखाई देता जबकि प्रकाश की गति को नापने के दो पैमाने देश और काल हर स्थिति में एक जैसे ही रहते किन्तु आईन्सटीन का निष्कर्ष यह है कि देश और काल के मानदण्ड के बदल जाने से गति की नाप भी बदल जाती है।

इस संदर्भ में जिन दो बातों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं, वे महत्त्वपूर्ण हैं-

1. पहली बात तो यह है कि देश और काल का छोटा बड़ा होना प्रकाश के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगभग जितनी तेज गति पर ही होता है। हमारे अनुभव में आने वाली सामान्य गति में वह पकड़ में नहीं आता।

2. देश और काल का छोटा बड़ा होना उस व्यक्ति को नजर नहीं आयेगा जो देश को मापने वाले मानदण्ड और काल को नापने वाली घड़ी के साथ-साथ स्वयं भी चल रहा है। वह केवल उसी को नजर आयेगा जो केवल एक स्थान पर ही खड़ा है।

इस आधार पर आईन्स्टीन ने देश और काल के दो नामकरण किये-जब हम स्थिर होते हैं और देश और काल को नापने वाली हमारी छड़ और घड़ी भी स्थिर होती है तब जो लम्बाई और कालावधि हमें प्राप्त होती है वह ठीक (Proper) लम्बाई और कालावधि है किन्तु जब हम स्वयं स्थिर होते हैं और हमारी अपेक्षा देश-काल को मापने वाली छड़ और घड़ी बहुत तेजी से चल रही होती है तो उस छड़ की लम्बाई और काल का माप सापेक्ष होता है।

1992 में उपर्युक्त स्थापना को वास्तविक प्रयोग करके जांचा गया। वायुयान में चार अत्यन्त सूक्ष्म समय देने वाली आणविक घडियां रखकर पूरब और पश्चिम दोनों दिशाओं में पृथ्वी के चारों ओर घुमाई गई और यह पाया गया कि पृथ्वी पर ही रखी घड़ियों का समय कुछ पीछे हो गया है। इसका यह अर्थ होता है कि समय के न्यूनाधिक होने का तथ्य वास्तविक है, दृष्टि का भ्रम नहीं है।

द्रव्यमान की वृद्धि

यदि कोई पदार्थ प्रति सेकेण्ड 100 फुट गति से चल रहा है और उसे 101 फुट प्रति सेकेण्ड की गति से चलाना चाहें तो इसके लिए जितनी अतिरिक्त ऊर्जा लगानी पड़ेगी-8000 फुट प्रति सेकेण्ड से चलने वाले पदार्थ की गति 8001 फुट प्रति सेकेण्ड करने के लिए भी उतनी ही ऊर्जा लगानी चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं है, क्योंकि अधिक तेज चलने वाले पदार्थ में अधिक गतिज ऊर्जा (Kinetic Energy) आ जाती है, मानो उस पदार्थ का द्रव्यमान बढ़ जाता है। परापरमाणु स्तर पर यह स्थिति वस्तुत: बन जाती है कि जब कण प्रकाश की गति जैसी तीव्र गति से चलते हैं तो उनका द्रव्यमान सचमुच बढ़ जाता है। इस तथ्य का पता हमें इस बात से चला कि परापारमाणविक कण (Sub-Atomec-Partivles) भिन्न-भिन्न गतियों से चलते हैं और उनकी गतियों के अन्तर से उनके द्रव्यमान में भी अन्तर आ जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

काल की सापेक्षता

आईन्स्टीन ने एक प्रयोग मानसिक रूप से किया। कल्पना करें कि एक कमरा शीशे का बना हुआ है जिसके ठीक बीचो-बीच बिजली का लट्टु लगा है और वह कमरा चल रहा है। एक व्यक्ति उस कमरे के बाहर है। बिजली का लट्टु रुक-रुक कर जलता है। जब वह जलता है तो कमरे के भीतर वाले व्यक्ति को वह प्रकाश कमरे की चारों दीवारों तक एक साथ पहुंचाता हुआ दिखाई देता है। अब यदि वह कमरा प्रकाश जैसी तीव्र गति से चलने लगे तो बाहर वाले व्यक्ति को गति की विपरीत दिशा में बनी हुई अर्थात् पिछली दीवार पर प्रकाश पहले पहुंचाता हुआ दिखाई देगा और गति की दिशा में बनी हुई अर्थात् अगली दीवार पर वह प्रकाश बाद में पहुंचाता हुआ दिखाई देगा। जो एक के लिए पूर्वापर है-वह दूसरे के लिए युगपत् है। इसका यह अर्थ हुआ कि विश्व में निरपेक्ष रूप में पहले, पीछे और एक साथ होने का कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि ये सब दर्शक-सापेक्ष हैं।

आईन्स्टीन ने इस आधार पर एक नया सिद्धान्त बनाया कि देश और काल पृथक्-पृथक् नहीं है अपितु दोनों मिलकर एक चतु:आयामी तत्व है। न्यूटन यह मान रहा था कि देश में लम्बाई-चौड़ाई और मोटाई ये तीन आयाम हैं- जो हर स्थूल पदार्थ में रहते हैं और एक समय का चौथा आयाम है जिसमें ये तीन आयाम वाले पदार्थ परिणत होते रहते हैं। न्यूटन के अनुसार समय गति करता है-अतीत से वर्तमान में होता हुआ भविष्य में जाता है। आईन्स्टीन के अनुसार देश काल मिलकर एक तत्व है-जो स्थैतिक (Static) है। इस स्थैतिक देश-काल के पटल पर कुछ नया घटित नहीं होता अपितु सब कुछ पहले से ही चित्रलिखित है। जब हम उसे देखते हैं तो वह केवल अभिव्यक्त होता है।

चतु:आयामी देश काल एक गणितीय स्थापना है। बोलचाल की भाषा में उसे कहने के लिए हम चतु:आयाम शब्द का प्रयोग करते हैं। पाइथागोरस प्रमेय (P-Theorerm) के अनुसार समकोण त्रिकोण की दो भुजाओं के वर्ग का योग कर्ण के वर्ग के बराबर होता है। उदाहरणात: यदि एक समकोण त्रिकोण की एक भुजा 3 इंच और दूसरी भुजा 4 इंच है तो तीसरी भुजा 9+16=25=5 इंच होगी। इसके समानान्तर देश और काल को देश-काल भले कुछ भी हो किन्तु देश-काल और उन देश और काल के बीच अनुपात एक ही रहता है जैसे समकोण त्रिकोण के दो भुजाओं की लम्बाई कुछ भी क्यों न हो किन्तु कर्ण की लम्बाई का उस लम्बाई के साथ अनुपातिक संबंध वही होता है। आईन्स्टीन के गणित के गुरु Minpwshi ने यह निष्कर्ष निकाला कि किसी भी व्यक्ति के अतीत और भविष्य अब और यहीं (Now and here) मिलते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पदार्थ और ऊर्जा की युति

आईन्स्टीन के सापेक्षता सिद्धान्त का एक दूसरा और महत्त्वपूर्ण पक्ष है-पदार्थ और ऊर्जा की एकता जिसे हम एक दूसरे परिप्रेक्ष्य में शरीर और मन की एकता भी कह सकते हैं। पूर्व और पश्चिम दोनों में भ्रम की चर्चा हुई है। भ्रम का यह अर्थ नहीं है कि पदार्थ है नहीं किन्तु भ्रम का यह अर्थ कि पदार्थ जैसा है हम उसे वैसा नहीं देख पा रहे हैं। इसके साथ ही पदार्थ जैसा है- हम उससे भाषा में प्रकार कह नहीं पा रहे हैं। भारत में अन्न से मन बनने की बात कह कर एक अर्थ कहा गया कि पदार्थ का द्रव्यमान यदि प्रकाश की गति के वर्ग से गुणित किया जाये तो वह ऊर्जा बन जायेगा। सूत्र है-$E=MC^2$। E का अर्थ है Energy (ऊर्जा), M-Mass (द्रव्यमान) C प्रकाश की गति का द्योतक है। इसका यह अर्थ होता है कि पदार्थ के छोटे से छोटे कण में भी बहुत बड़ी मात्रा में घनीभूत ऊर्जा है। इसी कारण किसी सितारे के केन्द्र में तारे की आकर्षण शक्ति से आकृष्ट होकर जब चार हाइड्रोजन के परमाणु मिलकर एक हीलियम परमाणु बनते हैं तो उस हीलियन परमाणु का द्रव्यमान उन चार हाइड्रोजन परमाणुओं के द्रव्यमान से थोड़ा-सा कम होता है अर्थात् कुछ द्रव्यमान ऊर्जा अर्थात् ताप और प्रकाश में बदल जाता है। इस कारण वे तारे लाखों वर्ष तक चमकते रह सकते हैं। इसी आधार पर हाइड्रोजन बम का आविष्कार भी हुआ।

इस प्रकार जिस तरह सापेक्षता के सिद्धान्त से देश और काल एक ही तत्त्व के दो पक्ष सिद्ध हुए उसी प्रकार द्रव्यमान और ऊर्जा भी एक ही तत्त्व के दो पक्ष सिद्ध हो गये। इस सिद्धान्त के आधार पर कि पदार्थ न नया उत्पन्न होता है कि न नष्ट होता है-यह सिद्धान्त बन गया कि पदार्थ-ऊर्जा का समन्वित रूप न नया उत्पन्न होता है, न नष्ट होता है।

निष्कर्ष

विज्ञान द्वारा स्वीकृत सापेक्षता के सिद्धान्त की ऊपर दी गयी रूपरेखा के आलोक में यदि हम अनेकान्त अथवा स्याद्वाद के सिद्धान्त को देखने का प्रयत्न करें तो कतिपय तथ्य हमारे सम्मुख आयेंगे-

1. बौद्ध एवं वेदान्ती का यह कथन है कि यदि कोई घटना स्वत:सिद्ध तर्क के विरुद्ध दिखायी दे तो हमें स्वत:सिद्ध तर्क को वरीयता देनी चाहिए और उस घटना की ऐसी व्याख्या करनी चाहिए कि वह तर्क-विरुद्ध न रह जाये। उदाहरणत: हमें पदार्थ में नित्यता और अनित्यता दोनों दृष्टिगोचर होती है किन्तु स्वत:सिद्ध तर्क का तकाजा है कि ये दोनों एक साथ नहीं रह सकती, अत: इनमें से या तो नित्यता ही सत्य है, अनित्यता मिथ्या है (जैसा कि वेदान्ती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मानते हैं) अथवा अनित्यता ही सत्य है, नित्यता मिथ्या है (जैसा कि बौद्ध मानते हैं)। इसके विरुद्ध जैन का कथन है कि यदि हमारे अनुभव में कोई ऐसी घटना आती है जो हमारी समझ के विरुद्ध है तो हमें अपने अनुभव का अपलाप नहीं करना चाहिए-प्रत्युत् अपनी समझ को बदलना चाहिए। आईन्स्टीन ने यही किया। हमने अपनी समझ यह बना रखी कि किसी भी पदार्थ की गति उस पदार्थ को देखने वाले के अनुताप में बदल जाती है-अर्थात् उस पदार्थ को देखने वाला यदि (1) स्थिर है अथवा (2) पदार्थ की ओर गति कर रहा है अथवा (3) पदार्थ से विपरीत दिशा में गति कर रहा है तो तीनों शाखाओं में पदार्थ की गति उस देखने वाले की परिस्थिति के अनुसार भिन्न होगी किन्तु जब यह पाया गया कि प्रकाश के साथ ऐसा नहीं होता तो आईन्स्टीन ने अनुभव का अपलाप नहीं किया बल्कि हमारी इस समझ को बदल दिया कि घड़ियों में कालावधि तथा मानदण्ड की लम्बाई सदा एक ही रहती है। परिणाम यह हुआ कि सापेक्षता के सिद्धान्त का जन्म हो गया और प्रकाश की गति की हर परिस्थिति में एक समान रहने की पहेली का हल ढूंढ लिया गया। निश्चय ही यह जैन दृष्टिकोण का अवलम्बन लेने से हुआ। यदि अनुभव का ही अपलाप कर दिया जाता तो हम न्यूटन के युग में रह रहे होते और आईन्स्टीन का युग आता ही नहीं।

प्रत्ययवादी दर्शन मायावाद अथवा मानसिक कल्पना का सहारा लेकर दो विरोधी तत्त्वों में एक को-नित्यता अथवा अनित्यता को मिथ्या अथवा दृष्टिभ्रम अथवा मन की सृष्टि मान लेते हैं। विज्ञान के आलोक में, ऐसी परिस्थिति में हमें एक तत्व को झूठा कहने का अधिकार नहीं है। दृष्टिभ्रम का यह तो अर्थ हो सकता है कि हम पदार्थ को वैसा नहीं देख पा रहे हैं जैसा कि वह वस्तुत: है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि पदार्थ है ही नहीं। जैन इसे व्यवहार नय तथा निश्चय नय के माध्यम से स्पष्ट करता है। उदाहरणत: यदि भ्रमर में सभी रंग हैं और हमें वह काला नजर आता है तो ये दोनों परस्पर विरोधी तत्त्व हुए किन्तु इस कारण इनमें से किसी को झूठा मानना उचित नहीं होगा। कहना यह होगा कि निश्चय नय से तो भ्रमर में सभी रंग हैं किन्तु व्यवहार में वह काला ही दिखता है। ये दोनों दृष्टियां ही उपयोगी हैं। यदि हम निश्चय को न जानेंगे तो हम इस अज्ञान में ही जीते रहेंगे कि भ्रमर में केवल काला रंग है और यदि हम व्यवहार नय को मिथ्या माने लेंगे तो फिर यह कहना ही असम्भव हो जायेगा कि भ्रमर काला है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज विज्ञान के क्षेत्र में यह बात उभर कर आयी है कि स्थूल स्तर पर हमारा समस्त व्यवहार न्यूटन के सिद्धान्तों के आधार पर चलता है और वह खरा भी उतरता है किन्तु परा-परमाणु के स्तर पर न्यूटन के सिद्धान्त गलत सिद्ध होते हैं और वहां हमें आईन्स्टीन के सिद्धांत लागू करने पड़ते हैं। न्यूटन के और आईन्स्टीन के सिद्धान्तों में परस्पर विरोध है किन्तु क्या इस कारण हम इनमें से किसी एक को मिथ्या मान सकते हैं? वस्तुत: भिन्न-भिन्न परिप्रेक्ष्य में दोनों ही सिद्धान्तों को सत्य मानना होगा।

3. अब तक न्यूटन युग की अवधारणाओं में बंधे रहकर जो एक रेखा को दूसरी रेखाओं की अपेक्षा बड़ा-छोटा दोनों बताया जा रहा था वहां ऐसा लगता था कि सिद्ध-साधन दोष है। 5 फुट की रेखा 4 फुट की रेखा की अपेक्षा बड़ी तथा 6 फुट की रेखा की अपेक्षा छोटी है, यह इतनी स्पष्ट बात है कि यह कहकर हम किसी गंभीर तथ्य का उद्घाटन करने का दावा नहीं कर सकते थे। किन्तु आईन्स्टीन द्वारा यह कहे जाने पर कि एक ही छड़ किसी परिस्थिति में छोटी और किसी परिस्थिति में बड़ी हो जाती हम एक ऐसे तथ्य को जान पाये हैं जो अब तक अज्ञात था। विज्ञान के सापेक्षता के सिद्धान्त द्वारा हमें अपूर्वार्थ का बोध होता है, उस पर सिद्ध-साधन का दोष नहीं लगाया जा सकता।

4. स्याद्वाद के अन्तर्गत जब हम यह कहते हैं कि "स्याद् घट है, स्याद् घट नहीं है", "स्याद् घट अवक्तव्य है", तो यह सब शब्दों का मायाजाल सा प्रतीत होता है। आईन्स्टीन के सापेक्षता सिद्धान्त के अनुसार स्याद्वाद की यह प्रणाली विज्ञान की उपलब्धियों को अभिव्यक्त करने में समर्थ एकमात्र प्रणाली है। उदाहरणत: खड़े हुए देवदत्त को किन्हीं दो घटनाओं के बीच का अन्तराल 5 घंटे ज्ञात हो रहा है और प्रकाश की गति जैसी तीव्र गति से चल रहे यज्ञदत्त को उन्हीं दो घटनाओं के बीच का अन्तराल 3 घंटे ज्ञात हो रहा है, तब इन दोनों समयों के बीच जो (5-3=2) घंटे का समय है वह वास्तव में है या नहीं? उत्तर यही होगा कि देवदत्त की अपेक्षा वह समय है तथा यज्ञदत्त की अपेक्षा वह समय नहीं है और यदि यह पूछा जाये कि वास्तव में वह समय है या नहीं तो यही उत्तर होगा कि यह बतलाना संभव नहीं है अर्थात् यह अवक्तव्य है। इन तीनों भागों के मेल (Permutation Combination) से सात भाग बन जायेंगे और सत्य को कहने का वही सर्वोत्तम उपाय सिद्ध होगा।

5. हमें यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि आईन्स्टीन ने सापेक्षता के कुछ ऐसे नये आयाम उद्घाटित किये हैं जो प्राचीन जैन आचार्यों को भी ज्ञात नहीं थे किन्तु इससे अनेकान्त का सिद्धान्त और अधिक पुष्ट हुआ है और उसके मूलभूत ढांचे को कोई क्षति नहीं पहुंची है, यद्यपि देश और काल संबंधी जैन परम्परा में प्रचलित मान्यताओं में संशोधन करना आवश्यक हो गया है। दर्शन के क्षेत्र में ऐसे संशोधन पहले भी होते रहे हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

6. परापरमाणु के क्षेत्र में एक symetry के सिद्धान्त ने विरोध में अविरोध देखने की दृष्टि दी। निम्न चार चित्रों को देखें-

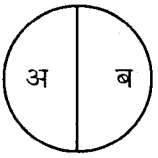

इस चित्र में एक वर्तुल को दो भागों में बांटा गया है-

अ और ब। यदि यह पूछा जाये कि अ और ब भिन्न हैं या अभिन्न तो कहना होगा कि क्षेत्र की दृष्टि से अ और ब भिन्न किन्तु आकृति की दृष्टि से अभिन्न है। इन दोनों में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है। उत्पाद और व्यय में परस्पर ऐसा ही बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है। इनमें एक दूसरे के बिना नहीं रह सकता। वे विरोधी हैं किन्तु इन दोनों का सह-अस्तित्व भी बना है। यही विरोध में अविरोधी की स्थापना है जिसे देखने की दृष्टि हमें अनेकान्त देता है।

7. साधना के क्षेत्र में देश-काल की समन्वित अवधारणा ने एक नयी दृष्टि दी है हम सबका देश और काल पृथक्-पृथक् है किन्तु समन्वित देश-काल सबका एक है। यह समन्वित देश-काल अब और यहीं को एक मात्र सत्य मानता है जो कि व्यक्ति निरपेक्ष है। जब तक हम अब और यहीं अर्थात् वर्तमान में हैं तब तक हम वीतरागता की स्थिति में हैं जैसे ही हम भूत की स्मृति और भविष्य की कल्पना में जाते हैं वैसे ही राग-द्वेष हमें आकर घेर लेते हैं। राग-द्वेष में हमारी दृष्टि रञ्जित हो जाती है। अत: हम सबका सत्य अलग-अलग हो जाता है किन्तु वीतरागता की दृष्टि से हम सबका सत्य एक ही रहता है।

द्वन्द्वों की दुनिया

पदार्थ का नाम और रूप उस पदार्थ को दूसरे पदार्थ से भिन्न बनाता है। भेद का आधार है-विषमता। यह विषमता ही द्वैत का आधार है। अंधकार है, इसलिए प्रकाश का नाम प्रकाश है। अंधकार न हो तो प्रकाश शब्द ही न बन पाये। प्रकाश और अंधकार को साथ-साथ रहना होता है। यदि अंधकार में प्रकाश का अंश न हो तो अंधकार भी दृष्टिगोचर नहीं हो सकेगा। प्रकाश में भी तरतमता रहती है। प्रकाश की यह तरतमता प्रकाश में रहने वाले अंधकार के अंश के कारण है। अंधकार जैसे-जैसे कम होता जायेगा प्रकाश वैसे-वैसे बढ़ता जायेगा।

यह द्वन्द्व सब स्तरों पर काम कर रहा है। व्यक्ति के स्तर पर प्राण और अपान के बीच द्वन्द्व है। व्यान इन दोनों में समन्वय स्थापित करता है। जब यह सामञ्जस्य टूट जाता है तो प्राण और अपान भी समाप्त हो जाते हैं और इनके समाप्त होने पर जीवन ही समाप्त हो जाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाप-पुण्य

आचार के क्षेत्र में पाप और पुण्य का द्वन्द्व है। जब तक पुण्य है तब तक पाप भी है। साधक को यदि बंधन मुक्त होना है तो उसे शुभ-अशुभ दोनों से परे जाना होगा।

ज्ञान-कर्म

दर्शन के और साधना के इतिहास में ज्ञान और कर्म का विरोध प्रसिद्ध है। प्रयत्न किया गया कि कर्म को छोड़ा जाये, क्योंकि वह बंधन का कारण है। किंतु इसमें सफलता नहीं मिल सकी। ज्ञान है तो कर्म भी होगा ही। इसलिए साधना में जागरूकता की बात आई, कर्म छोड़ने की बात नहीं। कर्म करें किंतु साक्षी भाव रखें। कर्म करें किंतु द्रष्टा बने रहें कि आप क्या कर रहे हैं-यही भावक्रिया है। भावक्रिया में ज्ञान और कर्म का समन्वय है। जहां समन्वय नहीं रह पाता वहां कर्म यान्त्रिक हो जाता है-यह बंधन का कारण है और यदि कोई कर्म को सर्वथा छोड़ देने का दुराग्रह कर बैठे तो उसका जीवन चलना ही संभव नहीं है।

प्रवृत्ति-निवृत्ति

हम इष्ट को स्वीकार करें-यह प्रवृत्ति है। अनिष्ट को अस्वीकार करें-यह निवृत्ति है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोंनों जीवन रथ के दो पहिए हैं। एक भी पहिया हट जाये तो रथ नहीं चल सकता।

बिम्ब-प्रतिबिम्ब

Symetry का सिद्धान्त अद्‌भुत है-यह जिन दो पदार्थों में रहती है-उनमें बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव रहता है। बिम्ब और प्रतिबिम्ब में बहुत समानता रहती है किन्तु फिर भी वे एक दूसरे के विपरीत होते हैं। दर्पण में पड़ने वाले हमारे मुख का प्रतिबिम्ब हमारे बाह्य अंग को दाईं ओर तथा दाएं अंग को बांई ओर प्रदर्शित करता है। उत्पाद और व्यय में, जन्म और मृत्यु में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है। वे दोनों परस्पर विरोधी दृष्टिगोचर होते हैं किन्तु हैं दोनों एक दूसरे के बिम्ब। जन्म और मृत्यु एक क्षण-विशेष में नहीं होते प्रत्युत् प्रत्येक क्षण होते रहते हैं। शरीर शास्त्र की भाषा में एक सेकेण्ड में हमारे शरीर की 5 करोड़ कोशिकाएं नष्ट हो रही हैं और उतनी ही कोशिकाएं नई उत्पन्न हो रही हैं। इस प्रकार जन्म और मृत्यु साथ-साथ चल रहे हैं।

दु:ख-सुख

मुद्दे की बात यह है कि दु:ख और सुख साथ-साथ चलते हैं। हमारा सारा पुरुषार्थ यह लक्ष्य लेकर चलता है कि सुख तो रहे किन्तु दु:ख न रहे। हमने यह लक्ष्य ऐसा बना लिया है जिसकी प्राप्ति कभी संभव नहीं है। सुख रहेगा तो दु:ख भी रहेगा ही। इस बात को समझकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लक्ष्य यह बनाया जाना चाहिए कि हम सुख और दु:ख में व्याकुल न हों। दोनों को एक ही सत्य के दो रूप मानकर स्वीकार करें।

यथा आगत तथागत

हम प्रकृति के नियम के विरुद्ध नहीं जा सकते। विश्व की व्यवस्था ही ऐसी है कि उसके मूल में विरोधी युगल एक साथ रहते हैं। हमारी कठिनाई यह है कि हम उनमें से एक को अनुकूल और दूसरे को प्रतिकूल माने हुए हैं। हमने यह मान लिया है कि जीवन अनुकूल है, मृत्यु प्रतिकूल।

हमें यह भी समझना चाहिए कि जीवन मृत्यु के बिना टिक नहीं सकता। जन्म होता रहे और मृत्यु न हो तो संसार नरक हो जाये। महात्मा बुद्ध का एक नाम है तथागत। तथागत का शब्दार्थ है जैसा आया वैसा गया। आना और जाना परस्पर पूरक हैं। न आने की प्रसन्नता, न जाने का दु:ख-दोनों के प्रति केवल जैसे हैं, उस रूप में उन्हें जानने का भाव तथागतता है। कोई भी एक भाव एक क्षण के लिए टिकता है तो दूसरे क्षण उसका विरोधीभाव उसे पदच्युत कर देता है। इस क्षणिकता को समझकर महात्मा बुद्ध तथागत बन गयें।

भेदाभेद

भेद में छिपे अभेद को तब जाना जा सकता है जब हम सूक्ष्मता में जायें। स्थूल स्तर पर भेद ही दृष्टिगोचर होता है। वस्तुस्थिति यह है कि पूरा सत्य स्थूल और सूक्ष्म जोड़कर बना है, इसलिए जो सूक्ष्म को नहीं जान पाता उसके लिए भिन्नता शत्रुता का पर्यायवाची बन जाती है। जब यह सूक्ष्म को जान लेता है तब भेद उसके लिए परिपूरकता का पर्यायवाची बन जाता है।

व्यक्ताव्यक्त

हममें से हर एक के व्यक्त रूप के पीछे एक अव्यक्त रूप भी छिपा है। परिवर्तन का अर्थ है-अव्यक्त का व्यक्त हो जाना और व्यक्त का अव्यक्त हो जाना। यही हमारे लिए नयी संभावनाओं का द्वार खोलता है। ध्यान इसलिए रूपान्तर का साधन बन सकता है कि वह हममें छिपे हुए को उद्घाटित कर सकता है। रोग एक पर्याय है। निरोगता उसके पीछे छिपी है, इसलिए कोई भी रोगी स्वस्थ हो सकता है। इस संभावना को समझकर आत्मविश्वास जगाने की आवश्यकता है।

प्राय: समझा जाता है कि जैन दर्शन द्वैतवादी है। वस्तुत: जैन दर्शन द्वैताद्वैतवादी है। इसी आधार पर प्राणी मात्र के अद्वैत को समझा जा सकता है। स्थावर-त्रस-पशु-मनुष्य ये सब व्यक्त पर्याय हैं और भिन्न-भिन्न हैं। इनके पीछे छिपी हुई एक ही चेतना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निश्चय-व्यवहार

स्थूल स्तर पर व्यहार नय कार्य करता है, सूक्ष्म स्तर पर निश्चय नय। दोनों को जोड़कर ही पूरा सत्य बन पाता है। विज्ञान के क्षेत्र में भौतिक स्तर पर हम सापेक्षता को समझते हैं किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में अनेकान्त का अर्थ है-वीतरागता।

सूक्ष्म को जानने का उपाय है-प्रेक्षा। देखते हम सब हैं किन्तु देखने के साथ अपने पूर्वाग्रहों को जोड़े रखते हैं। ये पूर्वाग्रह राग-द्वेष जनित है। प्रेक्षा का अर्थ है पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर देखना।

पूर्वाग्रह केवल धर्म दर्शन के क्षेत्र में बाधक नहीं है, विज्ञान के क्षेत्र में भी बाधक है। देश काल के प्रति हमारा एक पूर्वाग्रह था कि वे बदलते नहीं है। प्रकाश की गति से उत्पन्न होने वाली समस्याओं का समाधान देश काल की इन अवधारणाओं के साथ संभव नहीं था। आईन्स्टीन ने अपने आपकों इन पूर्वाग्रहों से मुक्त किया तो विज्ञान के क्षेत्र में एक बहुत बड़ा सिद्धांत विकसित हो सका। बहुत बार जिन सत्यों को हम स्वत: सिद्ध मान लेते हैं वे वस्तुत: हमारे पूर्वाग्रह होते हैं। विज्ञान की सारी प्रगति इस आधार पर होती है कि पुरानी धारणाएं खण्डित हो जाती हैं और नयी स्थापित हो जाती हैं। यदि हम पुरानी धारणा छोड़ने के लिए तैयार नहीं तो नई धारणा प्रतिष्ठित ही नहीं हो सकती और इस प्रकार विकास अवरुद्ध हो जाता है।

विज्ञान के क्षेत्र में तो पुरानी अवधारणाओं को छोड़ना कई बार इतना कठिन नहीं भी होता किन्तु धर्म दर्शन के क्षेत्र में हमारी धारणाएं भावनाओं से मिली होती हैं और उन्हें छोड़ने के लिए अपना अतिक्रमण करना होता है, यही सच्चा रूपान्तरण है।

पूर्णता-अपूर्णता

सापेक्षता का एक आयाम है पूर्णता और अपूर्णता का सह-अस्तित्व। परमार्थत: हम पूर्ण हैं अर्थात् अपने शुद्ध रूप में हम पूर्ण हैं। किन्तु हमारे व्यावहारिक रूप में अपूर्णता रहती है। व्यवहार का आधार है विचार और भाषा। जैसे ही हम सत्य को विचार और भाषा में बांधना चाहते हैं वैसे ही वह सत्य खण्डित हो जाता है। यदि इस बात को समझ लें कि हम जो सोच रहे हैं या कह रहे हैं-वह सत्य का एक अंश हो सकता है, पूर्ण सत्य नहीं-तो हमारा दुराग्रह समाप्त हो जायेगा। खाण्डित सत्य का अर्थ है सापेक्ष सत्य। जब हम निरपेक्षता पर जाते हैं तो भाषा अवरुद्ध हो जाती है। वहां न भाषा पहुंचती हैं, न बुद्धि, न तर्क। विचार का अपना महत्त्व है-वह सापेक्ष सत्य को जानता है। निर्विचारता का अपना महत्त्व है-वहां निरपेक्ष सत्य प्रकट होता है। जहां सापेक्षता होगी वहां पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों रहेंगे, जिसे हम मुख्य मान लेंगे-वह पक्ष हो जायेगा, जिसे हम गौण मान लेंगे वह प्रतिपक्ष हो जायेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विचार एक भौतिक पदार्थ है। जब हम विचार करते हैं तो कुछ परमाणु उसमें प्रभावित होते हैं और फिर वे परमाणु आकाश में फैल जाते हैं। यदि हम उन परमाणुओं को पढ़ना सीख सकें तो अतीत के विचार को भी वर्तमान में जान सकते हैं। यही सार्वभौम मन का अर्थ है। हर विचार अपने आने के साथ एक चित्र लेकर आता है। यदि दूरदर्शन के द्वारा एक स्थान का चित्र दूसरे स्थान पर आ जाता है तो केवल ज्ञान द्वारा अतीत और भविष्य का चित्र भी वर्तमान में देखा जा सकता है। इसीलिए केवली का भूतकाल और भविष्यकाल समाप्त हो जाता है। अनन्तज्ञान का यही अर्थ है।

अनाग्रह

अनेकान्त विचार का लचीलापन है। यह स्वीकार्य है, यह स्वीकार्य नहीं है-यह राग, द्वेष की दृष्टि है। वीतरागता में स्वीकार्यता और अस्वीकार्यता-दोनों सापेक्ष हो जाती है। यह एक तीसरा मार्ग है-समता का मार्ग। समता के मार्ग में सोचा यह जाता है कि हम प्रत्येक परिस्थिति में कैसे अविचलित रह सकते हैं। यह नहीं सोचा जाता कि हम परिस्थिति को कैसे बदल सकते हैं। यदि हम कुछ समय के लिए परिस्थिति को अनुकूल बना भी लें तो वह अनुकूलता सदा रहने वाली नहीं है। फिर किसी दूसरे प्रकार की प्रतिकूलता आ धमकेगी और यह श्रृंखला कभी समाप्त नहीं होगी। परिस्थति अपने आप में जैसी है वैसी है। उसमें अनुकूलता-प्रतिकूलता हम अपनी राग-द्वेष की दृष्टि के कारण आरोपित करते हैं। वह परिस्थिति का अपना धर्म नहीं है। यह अनेकान्त का साधना पक्ष है।

जन्म-मृत्यु

हमें दो चर्म-चक्षुओं से जन्म और मृत्यु दिखती है। यह उत्पाद-व्यय है। यदि पुनर्जन्म को जानना हो तो उत्पाद-व्यय की लड़ी के बीच से गुजरने वाली ध्रुवता को जानना होगा उसके लिए तृतीय नेत्र खुलना चाहिए। विज्ञान ने सूक्ष्म पर्यायों को उद्घाटित करके हमारे तीसरे नेत्र को खोलने में सहायता की है।

अनेकान्त हमे बताता है कि साधना में किसी के लिए ध्यान अनुकूल, किसी के लिए जप, किसी के लिए प्राणायाम होता है। सबके लिए एक ही उपाय करना कारगर नहीं हो सकता, क्योंकि सब व्यक्ति एक जैसे नहीं होते।

तृतीय नेत्र

इस प्रकार अनेकान्त के अनेक स्तर हैं। तत्व मीमांसा में वह अनित्यतायुक्त ध्रुवता है, आचार मीमांसा में वह समता है और विचार मीमांसा में वह तटस्थता। प्रसिद्ध है कि शिव के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीसरे नेत्र में से निकलने वाली अग्नि ने काम दहन कर दिया था। समझा जाता है कि स्त्री-पुरुष के परस्पर सम्पर्क में आने से कामवासना जागती है। यह एक कारण है। इसमें सूक्ष्म कारण है-पीनियल और पिच्युटरी ग्रंथि के स्राव का गोनाड्स पर स्रवित होना। इसमें भी सूक्ष्म कारण है मोहनीय कर्म का उदय और उसमें भी सूक्ष्म है भाव संस्थान की सक्रियता। तृतीय नेत्र का पुराना नाम है-आज्ञाचक्र। वही पीनियल और पिच्युटरी ग्रंथि है। इस स्थान पर ध्यान करने से पिच्युटरी और पीनियल ग्रंथ के स्राव बदल जाते हैं और गोनाड्स पर नहीं जा पाते। तब कामवसाना अपने आप समाप्त हो जाती है।

परिस्थिति मन:स्थिति

परिस्थिति और मन:स्थिति का भी निर्णय सापेक्ष दृष्टि से करना होगा। इन दोनों में से किसी एक पर दायित्व नहीं डाला जा सकता। इस प्रकार जहां भी दो मत हमारे सम्मुख आयें वहां उन दोनों के बीच सापेक्ष भाव से समन्वित दृष्टि अपनी होगी। हमारी दृष्टि को सेराटोनिन रसायन प्रभावित करता है। यह प्रभाव शास्त्रीय भाषा में दर्शन मोहनीय और चरित्र मोहनीय कर्म का है। प्रसिद्ध मादक एल.एस.डी. में सेराटोनिन रसायन रहता है जो हमारी चेतना को मूर्च्छित करता है। यह मूर्च्छा ही दर्शन मोहनीय कर्म है। दर्शन मोहनीय चेतना के केन्द्रों पर ध्यान करने से मूर्च्छा का विघटन होता है और दृष्टि बदलती है। हम समझते हैं कि कामवासना और स्नेहभाव बंधन है, किन्तु इन दोनों से भी बड़ा बंधन है दृष्टि के प्रति राग।

कामरागस्नेहरागौ ईषत्करनिवारणौ,
दृष्टिरागस्तु पापीयान्, दुरुच्छेदः सतामपि।

साधु गृहस्थी के बंधन को छोड़ देता है पर शास्त्र में आसक्त हो जाता है। शास्त्र की आसक्ति का अर्थ है विचारों के प्रति आग्रह। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा कि मूल बात राग-द्वेष का समाप्त होना है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव या जिन, कोई भी हो जिसमें राग-द्वेष नहीं वह वन्दनीय है-

भवबीजांकुरजननाः, रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य,
ब्रह्मा या विष्णुर्वा शिवो जिनो वा नमस्तस्मै।

इसी भावना को आचार्य हरिभद्र ने अपने शब्दों में प्रकट किया कि युक्ति संगतता में सम्मुख न कोई अपना है, न कोई पराया-

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राग-द्वेष से युक्त व्यक्ति युक्तिसंगत बात कर ही नहीं सकता और जो युक्तिसंगत बात करेगा, वह राग-द्वेष में फंस ही नहीं सकता। धर्म के तर्क संगत होने का यही अर्थ है। तर्क का प्रयोग दर्शन शास्त्र में हुआ किन्तु दर्शन का मुख्य अर्थ था-सत्य को देखना। जीवन की समस्याएं तर्क से नहीं सुलझती हैं। वे सुलझती हैं सत्य के साक्षात्कार से। जहां तर्क समाप्त होता है वहां वास्तविक दर्शन-सत्य का साक्षात्कार प्रारंभ होता है।

तर्कातीत सत्य

तर्क का अपना उपयोग है। जो व्यवस्थाएं हमने बनाई उनका आधार तर्क है और तर्क के आधार पर उन्हें बदला भी जा सकता है-बदला जाना भी चाहिए। सारी व्यवस्थाओं का विकास इसी प्रकार होता है। हम अराजकता से राजतंत्र और राजतंत्र से लोकतंत्र पर तर्क के सहारे आये हैं। ये हमारे विकास का इतिहास है। पशु ने ऐसा कोई विकास नहीं किया, क्योंकि उसमें तर्क बुद्धि नहीं है। किन्तु तर्क हमें पक्षपात से मुक्ति नहीं दिला पाता। तर्क का जितना उपयोग सत्य को सिद्ध करने के लिए हुआ, असत्य को सिद्ध करने के लिए भी तर्क का उपयोग उससे कम नहीं हुआ। किन्तु साक्षात्कार सदा सत्य का ही सहायक बना है।

सम्भावनायें और योजनायें

अनेकान्त हमें संशय में डाल सकता है-यह आक्षेप बहुत पुराना है। वस्तुत: अनेकान्त संशय में नहीं डालता अपितु संभावनाओं के द्वार खोलता है। निर्णय वर्तमान पर्याय के आधार पर किया जाता है किन्तु यदि हम भविष्य की पर्यायों की संभावना पर ध्यान न दें तो विकास के लिए कोई योजना ही नहीं बना सकेंगे। कोई भी निर्णय जब तक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की समझ के साथ न लिया जाये तब तक वह निर्णय ठीक नहीं हो सकता। विज्ञान में संभावनावाद का सिद्धांत मान्य है। संभावना का अर्थ संशय नहीं है। संभावना का अर्थ है-बदल सकने की क्षमता। व्यवहार वर्तमान के आधार पर होगा, योजना भविष्य की संभावना के आधार पर बनेगी। जिस प्रकार भविष्य के लिए योजना बनाना आवश्यक है उसी प्रकार अतीत से सीखना भी आवश्यक है। वस्तुत: अतीत, वर्तमान और भविष्य का विभाजन हम अपनी उपेक्षा से करते हैं। काल में ऐसा कोई विभाजन नहीं है। निरपेक्ष काल अविभक्त ही है। जब तक हम विभक्त काल को ही एकमात्र सत्य मान लेते हैं तो यह काल का एक पक्षीय दृष्टिकोण हुआ।

जड़-चेतन

जब जड़ और चेतन बंधे रहते हैं तो अन्योन्य सापेक्ष होते हैं। स्वतंत्र होने पर वे निरपेक्ष हो जाते हैं। इस प्रकार सापेक्ष की भी सत्प्रतिपक्ष निरपेक्षता है। निश्चय और व्यवहार की अनेक परिभाषाएं हैं। एक परिभाषा यह भी है कि अतीन्द्रिय ज्ञान निश्चय नय का विषय है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रिय ज्ञान व्यवहार नय का विषय है। निश्चय सूक्ष्म को पकड़ता है, व्यवहार स्थूल को पकड़ता है-पूर्ण सत्य दोनों के समन्वय से प्राप्त होता है।

अस्तित्व के आधार पर केवल अभेद है, क्योंकि अस्तित्व सबमें समान रूप से है। विशेष गुणों की अपेक्षा सबमें भेद हैं। उसके बिना किसी पदार्थ की अलग से सत्ता ही नहीं बन सकती।

सन्दर्भ :

1. By the beginning of the 20th Century science and philosophy had become quite distinct and a person expert in one was usually very expert and ill informed in the other. The effect of the relativity theory was to re-establish physics on a philosophical basis. vol. 19, p. 95.
2. From now on space by itself and time by itself are mere shadows and only a blend of the two exists in its own right.

   - Hermann Minowski, Encyclopedia Americana, Vol. 23 page 337
3. The length of a metre rod and the duration of a second on a clock depend on the state of motion of the observer with respect to the instrument. - Enclycopedia Britanica. Vol. 8 page 96.

G-1, पेराडाइज अपार्टमेंट
D-148, दुर्गा मार्ग, बनीपार्क
जयपुर-302 006 (राजस्थान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में अहिंसा-विमर्श

— प्रोफेसर प्रेम सुमन जैन

जैन संस्कृति का मूलाधार अहिंसा है। समता, संयम, स्वानुभूति आदि सब अहिंसा का ही विस्तार है। प्राचीन जैन ग्रन्थों में अहिंसा की जो व्याख्या है, उसे आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने दशमी शताब्दी के भारत में एक नए परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। अध्यात्म और अहिंसा का घनिष्ठ सम्बन्ध उन्होंने स्थापित किया है, जिसका प्रतिनिधि ग्रन्थ है- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थराज में आचार्य अमृतचन्द्र ने उस अनेकान्त को नमस्कार किया है, जो परमागम का प्राण है, जन्म से अन्धे व्यक्तियों द्वारा हाथी के एकांश स्वरूप के कथन को जो निषेध करता है तथा जो सकल नयों से विभूषित पदार्थों के स्वरूप में प्रतिभाषित होने वाले विरोध को दूर करने वाला है। यथा -

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यंधसिंधुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥ 2॥

आचार्यश्री ने यह ग्रन्थ विद्वानों, समझदारों के लिए लिखा है और तीनों लोकों के लिए नेत्रस्वरूप परमागम को सावधानी पूर्वक अध्ययन करके इस ग्रन्थ में अहिंसादि व्रतों का निरूपण किया गया है। फिर भी आचार्य कहते हैं कि इसमें मेरा कुछ नहीं है। अनेक प्रकार के वर्णों से पद बन गये, पदों से वाक्य बन गये और वाक्यों से यह पवित्र शास्त्र बन गया, इसमें हमने कुछ नहीं किया है-

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शस्त्रमिदं न पुनरस्माभिः॥ 226॥

इस प्रकार यह ग्रन्थ आचार्य श्री की विनयशीलता और आध्यात्मिक अनुभव का निचोड़ है। आचार्य अमृतचन्द्रसूरि तत्त्वज्ञान के अभिलाषी व्यक्ति को एक महत्त्वपूर्ण सूत्र ग्रहण करने को कहते हैं कि आगमज्ञान निश्चय और व्यवहार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दोनों नयों में अपेक्षादृष्टि रखने वाले को ही मिलता है, एकान्तवादी को नहीं।[1] प्राचीन ग्रन्थों में भी कहा गया है कि यदि जिनमत में स्थिर होना चाहते हो तो व्यवहारनय एवं निश्चयनय को मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहार नय को छोड़ने से व्रत, संयम, दान-पूजा, तप, आराधना आदि तीर्थ रूप धर्म की हानि होगी और निश्चयनय को छोड़ने से शुद्ध आत्मस्वरूप तत्त्व का बोध नहीं होगा-

जइ जिणमयं पठिज्जह तो मा ववहार-णिच्छयं मुंच।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं, अण्णेण तच्चं च॥

स्वयं में स्वयं की लीनता

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नामक आचार्य अमृतचन्द्रसूरि का ग्रन्थ व्यवहार और निश्चय नय का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इसमें श्रावकाचार और मुनिधर्म दोनों का वर्णन है। आचार्य श्री ने ग्रन्थ के नाम की सार्थकता स्पष्ट करते हुए कहा है कि पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि (प्राप्ति) के उपाय को बताने वाला यह ग्रन्थ है। यह आत्मा ही पुरुष है, जो स्पर्श-रस-गंध-वर्ण से रहित, गुण एवं पर्यायों से विशिष्ट, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से सहित चैतन्यमय है। यही पुरुषरूप आत्मा जब अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करता है तब उसका प्रयोजन सिद्ध होता है, वीतरागपना तभी प्रकट होता है। इस प्रयोजन की सिद्धि का उपाय है- विपरीत श्रद्धान् को दूर करना तथा सम्यक् आत्म स्वरूप को समझकर फिर उससे चलायमान नहीं होना। स्वयं में स्वयं की लीनता ही परम लक्ष्य है।[2] श्रावकाचार के पालन के बाद अलौकिक मुनिवृत्ति को धारण करने से यह स्वयंलीन होने का अनुभव प्राप्त होता है।

आत्म-स्वरूप में निष्कंप लीन होने की स्थिति जितनी उच्च श्रेणी पर है, उतनी ही सबसे निम्न श्रेणी पर सकषाय की प्रवृत्ति है, जो हिंसा का मूल कारण है। अतः हिंसा को तिरोहित किये बिना व्रतों के अन्य सोपानों पर आरोहण नहीं हो सकता है। पुरुषार्थ की सिद्धि में हिंसा सबसे अधिक बाधक है और अहिंसा सबसे अधिक सहायक। इस कारण आचार्य अमृतचन्द्र ने इस ग्रन्थराज में हिंसा-अहिंसा के स्वरूप की सूक्ष्म व्याख्या की है। हिंसा किन-किन प्रवृत्तियों में हो सकती है, इसकी मौलिक खोज आचार्यश्री ने इस ग्रन्थ में प्रस्तुत की है और अहिंसा की उपलब्धि के मार्ग को प्रशस्त किया है।

विकृत भाव : हिंसा

आत्मा के परिणामों का पीड़ा जाना ही हिंसा है। जिस मन-वचन-काय से अपने अथवा पर के अथवा दोनों के परिणामों में आघात पहुंचे, दुःख हो, सन्ताप हो, कष्ट हो, उसी का नाम हिंसा है। जीव के परिणामों की पीड़ा को छोड़ कर हिंसा और कोई वस्तु नहीं है, इसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का नाम भाव-हिंसा है। जिसमें आत्मीय भावों की हिंसा होती है उसे ही भावहिंसा कहते हैं। वास्तव में हिंसा का स्वरूप यही है और इतना ही है। द्रव्यहिंसा को - शरीर के किसी अवयव की अथवा समस्त शरीर की हिंसा को (आयु-विच्छेद को) भी भावहिंसा के होने से ही हिंसा में गर्भित किया गया है। जो कोई किसी को शारीरिक कष्ट पहुंचाता है वहां आत्मा के परिणामों को दुःख पहुंचता है, इसलिए द्रव्यहिंसा हिंसा में गर्भित हो चुकी। इसी प्रकार जिस-जिस कार्य में आत्मा के परिणामों की हिंसा होती हो वे सब हिंसा में गर्भित हैं, जैसे- झूठ बोलना, चोरी करना, कुशील सेवन करना, तृष्णा बढ़ाना, हंसना, रोना, राग-द्वेष करना इत्यादि सब हिंसा के ही स्वरूप हैं। जितने भी विकृत भाव हैं वे सब हिंसास्वरूप हैं, इसलिये संसार में जितने भी पापों के भेद-प्रभेद कहे जाते हैं वे सब हिंसा के ही दूसरे नाम हैं। यथा-

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात् सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय॥ 42॥

इसलिये केवल मन-वचन-काय की प्रवृत्ति हिंसा का कारण नहीं है, किन्तु सकषाय-प्रवृत्ति ही हिंसा का कारण है, इसीलिये 'कषाययोगात्' यह हेतुवाक्य दिया गया है। जहां पर कषायपूर्वक योग है वहां चाहे भावहिंसा हो, चाहे द्रव्यहिंसा हो, दोनों ही हिंसा में गर्भित हैं अथवा किसी जीव की हिंसा भी हो, अपने भावों में ही सकषाय परिणाम हो तो अपनी ही हिंसा है।

मूलरूप से हिंसा चार भेदों में बंटी हुई है- 1. संकल्पिनी, 2. विरोधिनी, 3. आरंभिणी और 4. उद्योगिनी। इन चार भेदों में सबसे बड़ी और सबसे प्रथम त्याज्य संकल्प से होने वाली हिंसा है, जहां पर भावों में यह संकल्प कर लिया जाता है कि मैं इस जीव को मार डालूं अथवा इसे दुःख पहुँचाऊं वहां पर हिंसा करने का अभिप्राय रहने से उसे संकल्प से होने वाली हिंसा कहते हैं अर्थात् हिंसा के अभिप्राय से की गई हिंसा को संकल्पिनी हिंसा कहते हैं। जो जीव संकल्पिनी हिंसा करने के लिए उद्यमी होता है उसके द्वारा दूसरे जीव का घात हो अथवा न हो, परन्तु उसे तो हिंसा से होने वाला पापबंध हो ही जाता है। यही बात लोकनीति में भी पायी जाती है, जो कोई किसी को मारने के लिए तलवार या लाठी का प्रयोग करता है उससे वह नहीं भी मारा जाय तो भी प्रयोग करने वाले को सरकार उसे अपराधी में शामिल करती है, जो कि मारने वाला है। यह संकल्पी हिंसा तीव्र कषायों के उदय से होती है।

विरोधिनी हिंसा उसे कहते हैं कि जहां पर जीव को मरने के या उसे दुःख पहुंचाने के तो भाव नहीं हैं परन्तु दूसरा जीव अपने को पहले मारना चाहे या दुःख देना चाहे तो इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अवसर पर अपनी रक्षा के लिए विरोध करने में जीववध हो जाता है, अपनी रक्षा करने में जहां पर उस आक्रमणकारी जीव का विरोध करने में जो वध होता है वहां पर अपनी रक्षा करने वाले का अभिप्राय जीव को मारने का नहीं किन्तु अपनी रक्षा करने का है, परन्तु आत्मरक्षा करते-करते यदि दूसरे जीव का वध होता है तो वह हिंसा विरोध से होने वाली विरोधिनी कही जाती है।

आरम्भी हिंसा वह कहलाती है जो कि गृहस्थाश्रम में होने वाले आरंभ में से होती है। गृहस्थाश्रम में रहने वाले मनुष्यों को गृहस्थाश्रम सम्बन्धी आरम्भ करने ही पड़ते हैं, बिना आरम्भ किये गृहस्थाश्रम चल ही नहीं सकता। जल का बरतना, चौका, चूलि, ऊखरी, झाकड़ा, कपड़े धोना आदि सब कार्यों से आरम्भ होता है। जहां आरम्भ है वहां हिंसा का होना अनिवार्य है। इसलिये गृहस्थाश्रमी आरम्भी हिंसा से बच नहीं सकते, परन्तु आरम्भजनिक हिंसा की कमी अथवा स्वल्पता की जा सकती है। जिन कार्यों को विशेष आरम्भ के साथ किया जाता है उन्हें थोड़े आरम्भ से भी किया जा सकता है अथवा ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये जिसमें विशेष आरम्भ होता हो, अथवा जिन आरम्भों में अधिक जीवों के वध की सम्भावना हो उन आरम्भों को नहीं करना चाहिये। इस प्रकार गृहस्थाश्रम में रहने वाले विवेकी पुरुष आरम्भी हिंसा का बहुत कुछ बचाव कर सकते हैं। उद्योगिनी हिंसा वह कहलाती है तो गृहस्थाश्रमी मनुष्यों के उद्योग धंधों से होती है। किसी प्रकार के व्यापारी द्वारा अनाज भरने में, मिल खोलने में, दुकान करने में, खेती आदि सभी कार्यों का जो उद्योग (प्रयत्न) किया जाता है उसमें जो जीवों की हिंसा हो जाती है उसे उद्योगिनी हिंसा कहते हैं। इस हिंसा में भी उसी प्रवृत्ति का विचार करना इष्ट है कि जिससे जीव-वध अति स्वल्प है।

जिनागम का सार : यत्नाचार

आचार्य अमृतचन्द्र ने हिंसा-अहिंसा के विवेक को सूत्र रूप में पहले रखा है, फिर उसकी व्याख्या की है। वे कहते हैं कि रागादि भावों की उत्पत्ति हिंसा है और शुद्ध भावों का अनुभव अहिंसा है। यथा-

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥ 44॥

जैन सिद्धान्त में हिंसा का लक्षण "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" प्रमाद के योग से प्राणों का नष्ट करना हिंसा है, यह कहा गया है। प्राणों के नष्ट करने के पूर्व प्रमत्तयोग विशेषण दिया गया है। इस प्रमादयोगरूप पद से सिद्ध होता है कि जहां पर प्रमादयोग नहीं है किन्तु जीव के प्राणों का घात है वहां पर हिंसा नहीं कहलाती और जहां पर प्राणों का घात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं भी है किन्तु प्रमादयोग है वहां पर हिंसा कहलाती है। उसके हिंसारूप परिणाम नहीं है किन्तु वीतरागरूप हैं और यत्नाचार-पूर्वक उनकी क्रिया है। जहां ये दोनों बातें हैं वहां हिंसा कदापि नहीं हो सकती। इस कारण जो मुनिराज सदा वीतराग परिणामों के साथ यत्नाचारपूर्वक गमनागमन आदि की क्रियाएं करते हैं, उसमें सूक्ष्म जीववध होने पर भी उन्हें हिंसा का पाप नहीं लगता जबकि सरागी व्यक्ति को प्रमाद का योग होने से प्राणाघात न होने पर भी हिंसा का पाप लगता है। इसलिए जैनशास्त्रों में यत्नाचार पर विशेष बल दिया गया है।

व्यक्ति के चारों ओर जीवराशि के सूक्ष्म जीव विद्यमान हैं, जो हलन-चलन, श्वास आदि की क्रियाओं से भी नष्ट होते रहते हैं। ऐसे में कोई व्यक्ति अहिंसक कैसे बने? इस समस्या के समाधान के लिए भी जैनाचार्यों ने यत्नाचार के पालन का उपदेश दिया है। यथा-

जदं चरे जदं चिट्ठे जदं मासे जदं सये।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं न बज्झई॥ - मूलाचार, गाथा, 1013

सावधानी पूर्वक चलने, सावधानी पूर्वक खड़ा होने, सावधानी पूर्वक बैठने, सावधानी पूर्वक सोने, सावधानी पूर्वक भोजन करने और सावधानी पूर्वक बोलने वाला संयमी व्यक्ति पाप कर्मों का बन्ध नहीं करता है।

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि यहां साधक को सचेत करते हैं कि यद्यपि बाह्य पदार्थों में हिंसा नहीं है, प्रमादयुक्त परिणामों में ही हिंसा है, फिर भी अहिंसा के पालक व्यक्ति को उन समस्त बाह्य पदार्थों, निमित्तों से सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए जो हिंसा को बढ़ाने में सहायक हों, जिनसे भावों में कषाय उत्पन्न होती हों। अतः हिंसा के निमित्तों को हटाना भी जरूरी है, तभी परिणामों में शुद्धता आ सकती है। यथा-

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबंधना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या॥ 49॥

हिंसा के ठिकाने और बहाने

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ में आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने हिंसा के स्वरूप का विवेचन कर यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि अहिंसक बनने के लिए हिंसा के ठिकानों को जानना जरूरी है, ताकि उन-उन हिंसक प्रवृत्तियों में अहिंसक व्यक्ति लिप्त न हो। इसी प्रकार दैनिक व्यवहार एवं धार्मिक कार्यों के नाम पर भी कई बहानों से जो हिंसा होती रहती है, उसे भी त्यागना जरूरी है। ग्रन्थ में प्रतिपादित इस विवरण को संक्षेप में इस प्रकार ज्ञात किया जा सकता है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

1. तीन मकारों में हिंसा

अष्टमूलगुण के पालन में तीन मकारों- मदिरा, मांस और मधु (शहद) का त्याग अनिवार्य माना गया है। इन तीनों को हिंसा का प्रमुख ठिकाना माना गया है। अनेक जीवों के वध के उपरान्त ही मदिरा बनती है। अत: मदिरा का पान करना महान् हिंसा और अनर्थों का घर है।[3] मदिरा पीने से द्रव्यहिंसा और भाव हिंसा दोनों ही होती हैं। प्राणियों के वध के बिना मांस की उत्पत्ति ही संभव नहीं है। अत: मांस सेवन में तो हिंसा अनिवार्य हैं। अत: मांस को छूने और खाने में पूर्ण हिंसा है। इसी प्रकार मधुमक्खियों के वध से तैयार होने वाले मधु (शहद) में भी हिंसा अपरिहार्य है। जो अहिंसा आदि व्रतों को पालन करने वाले संयमी व्यक्ति हैं, उन्हें मदिरा, मांस, मधु आदि हिंसक पदार्थों का सेवन कभी नहीं करना चाहिए। आचार्य ने नवनीत (मक्खन) के सेवन का भी अहिंसक व्यक्तियों के लिए निषेध किया है। यथा-

मधु मद्य नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ता:।
बल्भ्यंते न व्रतिना तद्वर्णा जंतवस्तत्र॥ 71॥

इसी प्रकार पांच प्रकार के उदम्बर फलों - ऊमर, कठूमर, पाकर, बड़ और पीपल फल में भी त्रस जीवों की उत्पत्ति होती रहती है। इनका सेवन भी हिंसाजनक है। जैन श्रावकों को इन आठ प्रकार के हिंसक पदार्थों के सेवन का त्याग तो करना ही चाहिए। तभी वे धर्मोपदेश सुनने के पात्र बनते हैं। उन्हें स्थावरहिंसा से यथाशक्ति बचना है और त्रसहिंसा का सर्वथा त्याग करना है, यही श्रावक बनने की कसौटी है। यथा-

धर्ममहिंसारूपं संशृण्वंतोपि ये परित्यक्तुम्।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेपि मुंचतु॥ 75॥

2. अंधविश्वास एवं अज्ञानवश हिंसा

कतिपय अंधविश्वासी, अज्ञानी, श्रद्धालुओं ने यह मान रखा था कि देवताओं को खुश करने के लिए उन्हें पशुबलि देनी चाहिए। अत: ऐसे मूढ़ लोग धर्मकार्य में हिंसा को पाप नहीं मानते थे। कुछ खुशामदी लोग अतिथि को देवता मानकर उसे अपना सबकुछ अर्पण करने की भावना से मांसाहार, मदिरा आदि से तृप्त करना अपना धर्म समझते थे। ऐसे अज्ञानियों को सचेत करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा कि धर्म-कार्य, अतिथिसेवा आदि में की गयी हिंसा संकल्पी हिंसा है। उसमें द्रव्यहिंसा एवं भावहिंसा दोनों का पाप लगता है। अत: ऐसी क्रूर हिंसा से बचना चाहिए और धर्म का तथा देव पूजा का वास्तविक स्वरूप समझकर अपना अज्ञान दूर करना चाहिए।[4] देवता, अतिथि, मन्त्र औषधि आदि के निमित्त तथा अन्धविश्वास और धर्म के नाम पर संकल्पपूर्वक प्राणियों का घात नहीं करना चाहिए।[5]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसके साथ ही समाज में अज्ञानी और रसलोलुप व्यक्तियों ने हिंसा करने के अन्य रास्ते भी खोज लिए थे। वे कहते थे कि छोटे-छोटे प्राणियों को भोजन आदि के निमित्त मारने के स्थान पर एक बड़े प्राणी हाथी, बड़े मछली आदि को मार कर अधिक समय तक अपनी भूख मिटाने में हिंसा कम है। आचार्य अमृतचन्द्र ने ऐसे अज्ञानियों को सावधान करते हुए कहा कि यह तो अल्पारम्भ से बहु आरम्भ में लिप्त होने का मार्ग है। तीव्र रागक्रिया के बिना बहुआरम्भ सम्भव नहीं। यह तो संकल्पपूर्वक, जानबूझ कर पंचेन्द्रिय प्राणियों का घात होगा, जो महापाप है। इससे बचना चाहिए। यथा-

बहुसत्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्वघातोत्थं।
इतयाकलयय कार्यो न महासत्वस्य हिंसनं जातु॥ 82॥

इसी प्रकार का पाप इन विचारों और कार्यों में भी है–

1. एक हिंसक पशु को मार दिया जाए ताकि वह अन्य प्राणियों की हिंसा न करें।
2. हिंसक प्राणियों को तीव्र पाप से बचाने के लिए उन पर दया करके उन्हें शीघ्र मार देने का विचार।
3. उन अत्यधिक दुखी, रोगी, अभावग्रस्त व्यक्तियों, जीवों को भी उन्हें दु:ख से छुटकारा देने के लिए मार देने का विचार।
4. अत्यधिक सुखी, निरोगी जीवों को शीघ्र मार देने का विचार ताकि वे सुखपूर्वक मरकर अगले जन्म में सुखी पैदा हों।
5. भूखे व्यक्ति की क्षुधा शान्त करने के लिए उसे मांसाहार का दान करना आदि।

आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार का परहित सोचकर प्राणियों के वध की बात सोचना अज्ञान और अंधविश्वास के अतिरिक्त कुछ नहीं है। ऐसे विचारों और कार्यों से व्यक्ति अपनी हिंसा को अधिक बढ़ा लेता है और वह उन हिंसक जीवों से भी बड़ा हिंसक और क्रूर बन जाता है। अहिंसक को इन सब कुटिल विचारों और कार्यों से बचना चाहिए, क्योंकि जिनमत के रहस्य को समझने वाले, विशुद्ध मति के लोग कभी हिंसात्मक कार्यों, विचारों में लिप्त नहीं होते। यथा-

को नाम विशति मोहं नयभंगविशारदानुपास्य गुरून्।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः॥ 90॥

अहिंसक व्यक्तियों को अज्ञानियों के अयोग्य और लुभावने कार्यों को देखकर व्याकुल नहीं होना चाहिए। उन्हें यह विश्वास होना चाहिए कि अहिंसा अमरत्व दिलाने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाला रसायन है। विशुद्ध भावों से अहिंसा और अहिंसा पालन से कर्मक्षयरूप मुक्ति, यही जिनमार्ग है। यथा-

अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायनं लब्ध्वा।
अवलोक्य वालिशानामसमंजसमाकुलैर्न भवितव्यं॥ 78॥

सभी व्रतों का रक्षासूत्र अहिंसा

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने इस पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ में अहिंसा को बहुत अधिक व्यापक बनाया है। उन्होंने कहा है कि प्रमादयोग से ही व्यक्ति अनेक प्रकार से झूठ बोलता है, कषाययुक्त भावों से ही व्यक्ति दूसरे के धन को हड़पने की चेष्टाएं करता है, रागयुक्त भावनाओं से मैथुन आदि में लिप्त होता है, मूर्च्छाभाव से परिग्रह एकत्र किया जाता है, ये सभी प्रमाद और कषाय भावहिंसा के कारण हैं। अत: झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रहवृत्ति आदि में हिंसा सम्मिलित है। इस प्रकार की हिंसा से बचने के लिए ही सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतों का पालन किया जाता है। अत: ये व्रत अहिंसा के रक्षासूत्र हैं। इन्हीं रक्षासूत्रों में रात्रि भोजन त्याग व्रत भी है। अहिंसक होने के लिए रात्रिभोजन त्यागी होना आवश्यक है।[6] इसके लिए आचार्यश्री ने सूक्ष्मता से इस पर विचार किया है और अपना अंतिम निर्णय दिया है कि मन-वचन-काय से जो रात्रिभोजन का त्याग करता है वही निरन्तर अहिंसाव्रत को पालता है। यथा-

किंवा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः।
परिहरित रात्रिभुक्ति सततमहिंसां स पालयति॥ 134॥

सात शीलव्रत- तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत भी अहिंसा की साधना में सहायक हैं। अनर्थदण्डव्रत का विधान जैन-दर्शन का विशेष अवदान कहा जा सकता है। समाज में अधिकांश कार्य निष्प्रयोजन होते हैं, जिनको करने से आत्मा के विकास या शुद्ध भावों की वृद्धि में कोई सहयोग नहीं मिलता, अपितु राग-द्वेष की प्रवृत्ति बढ़ती है जो हिंसा को बढ़ाने वाली है। अत: ऐसे व्यर्थ के कार्यों को अहिंसक व्यक्ति को नहीं करना चाहिए। प्रत्येक कार्य को सावधानी पूर्वक करने एवं प्रत्येक वस्तु को देख-शोधकर उपयोग में लाने का विधान गृहस्थ के लिए मात्र धार्मिक उपदेश ही नहीं है, अपितु व्यावहारिक दृष्टि से सुसभ्य नागरिक बनाने का सूत्र है।[7]

निष्प्रयोजन हिंसा दुखदायी

बहुत से पुरुष प्रमाद में बैठे-बैठे सुस्ती में आकर वृक्षों को उनकी डालियों को उखाड़ देते हैं, पृथ्वी को खोदते रहते हैं, बगीचे में बैठे हैं, वहां की घास ही तोड़ रहे हैं, किसी नदी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या ताल के किनारे बैठकर बिना कारण पानी को ही इधर-उधर फैंक रहे हैं, कहीं रास्ते में चलते हुए वृक्षों के पत्ते, फल फूलों को तोड़-तोड़कर इकट्ठे ढ़ेर लगा रहे हैं, ये समस्त कार्य बिना प्रयोजन किये जाएं तो सिवाय जीववध होने के क्या लाभ हो सकता है? वृक्षादि-पुष्पादि के उखाड़ने से, पृथ्वी खोदने से, पानी के फैलाने से स्थावर हिंसा होने के सिवा उनके आश्रय रहने वाले त्रस जीवों का भी घात होता है, इसलिये ऐसे प्रमादाचरणरूप अनर्थदण्ड को कभी नहीं करना चाहिये।

बहुत से व्यक्ति तलवार आदि वस्तुओं को दूसरों को देते फिरते हैं, बहुत से पशुओं को मारने बांधने वाली चीजें-पींजरा, कठैरा आदि बांटते हैं अथवा मांगने पर दे देते हैं, ये सब चीजें सिवाय दूसरे जीवों को कष्ट पहुंचाने के और किसी काम में नहीं आ सकती, इसलिए इन्हें मारने, बांधने वाले हिंसा के उपकरण- हिंसा की सामग्री को दूसरों को देने से व्यर्थ ही उनसे की जाने वाली हिंसा का भागीदार बनना पड़ता है। बहुत से लोग ऐसे देखे जाते हैं जो चूहों को पकड़ने वाले पींजरों को घर-घर पहुंचाते हैं, बहुत से मक्खियां, मच्छर, जूआं, बिच्छू आदि विषैले जीवों के मारने वाले विषैले पदार्थों का प्रयोग बतलाने के साथ स्वयं अपने पास से वे चीजें दे देते हैं। बहुत से किन्हीं जीवों को ध्वंस करने के लिए अपने यहां से अग्नि दे देते हैं, इत्यादि रूप से जो प्रवर्तन करते हैं वह सब हिंसादान नामक अनर्थदंड हैं। इसलिये ऐसे बिना प्रयोजन के हिंसा दान का त्याग करना हिंसा दान अनर्थदण्ड-त्याग-व्रत है। साक्षात् जीवों की जान लेने वाले इन प्रयोगों से जहां तक हो प्रयत्नपूर्वक बचना चाहिये।

जिन बातों के सुनने से रागद्वेष की वृद्धि होती हो जैसे श्रृंगाररस के बढ़ाने वाली कथायें, युद्ध की बातें, भोजन की कथायें, राजाओं की बातें, देश की बातें, जिन बातों के सुनने सुनाने से बिना प्रयोजन राग, द्वेष बढ़ता हो, उपन्यासादि, झूठे किस्से-कहानियों का पढ़ना-बढ़ाना, झूठे शास्त्रों का सुनना-सुनाना, दूसरों को उनकी शिक्षा देना आदि सब दुष्ट कथायें कहलाती हैं, इन कथाओं से पुण्यास्रव नहीं होता, किन्तु पापास्रव की वृद्धि होती है।

जुआ खेलना भी अनर्थदंड है, कारण इसके खेलने से भी बिना प्रयोजन पापबन्ध होता है। जिस प्रकार गाड़ी में जुआ (जो बैलों के कन्धे पर रखा जाता है) सबसे आगे रहता है उसी प्रकार यह जुआ खेल भी समस्त अनर्थों में पहला अनर्थ समझा जाता है। जुआ खेलने वाला किसी अनर्थ से बच नहीं सकता, क्योंकि जो अन्याय का पैसा आता है उससे अन्याय के कार्य ही किये जाते हैं।

जो पुरुष ऊपर कहे हुए अनर्थदंडों को छोड़ देता है तथा दूसरे और भी जो अनर्थदण्ड समझे जाते हैं उन्हें समझकर छोड़े देता है उसी का अहिंसाव्रत निरन्तर निर्दोष पलता है। जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनर्थदण्ड का त्यागी नहीं है उस पुरुष से कभी भी अहिंसाव्रत नहीं पल सकता। अहिंसाव्रत का नहीं पलना हिंसा में प्रवृत्ति रखना है, उससे आत्मा को पापों का घर बनाना है, उसका परिणाम दुर्गति को प्राप्त होना है, इसलिए सुगति एवं आत्मीय पवित्रता चाहने वालों को अनर्थदण्डत्यागी बनना परमावश्यक है। यथा-

एवंविधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदंडं यः।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते॥ 147॥

अहिंसा की आधारभूमि

आजकल पर्यावरण-संरक्षण की बात सभी क्षेत्रों में की जाती रही है। जैन दर्शन के आचार्यों ने प्रारम्भ से ही पर्यावरण की रक्षा करने की बात विभिन्न रूपों में की है। रात्रिभोजन-त्याग, शाकाहार का विधान-सप्त शीलों का पालन, शुद्ध आजीविका का समर्थन, जैनमुनि की संयमित जीवनचर्या- ये सब जैनदर्शन की प्रवृत्तियां पर्यावरण-संरक्षण के ही आयाम हैं। बाहरी रूप से पर्यावरण के संरक्षण का प्रयत्न अस्थायी रहेगा, किन्तु जिन अशुद्ध भावों से पर्यावरण प्रदूषित होता है उन पर नियन्त्रण करने की शिक्षा एवं क्रियान्विति पर्यावरण-संरक्षण का स्थायी समाधन देगी। तृष्णा का क्षय और अभय अहिंसा का वातावरण इसके लिए सही मार्ग है। आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि जो व्यक्ति नियमित किये गये भोगों में संतुष्ट होता हुआ अधिक भोगों को त्याग देता है, उसकी बहुत-सी होने वाली हिंसा छूट जाती है। इस कारण वह विशेष अहिंसा का पालक बन जाता है। यथा-

इति यः परिमितभोगैः संतुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान्।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याऽहिंसा विशिष्टा स्यात्॥ 166॥

अहिंसा की आधारभूमि संविभाग में है। लोभ हिंसा का पर्याय है तो दान अहिंसा का जनक, क्योंकि अतिथि को दान देने में उसकी आरम्भजनक प्रवृत्तियों में कमी आती है और दाता की तृष्णा घटती है। ममत्व घटता है और प्रसन्नता होती है। ये सब हिंसा को बढ़ाने वाले हैं। अपने लिये तैयार किये हुए भोजन को जो गृहस्थ भावपूर्वक मुनि-महाराज को देता है उसके उस समय अरति, विषाद और लोभ तीनों ही नष्ट हो जाते हैं और इन तीनों के नष्ट हो जाने से उस समय आत्मा के अहिंसामय भाव रहते हैं, इसलिये दान को अहिंसा स्वरूप समझना चाहिये। यथा-

कृतमात्मार्थं मुनये तदाति भक्तमिति भावितस्त्यागः।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव॥ 174॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मरण-काल में संलेखना, समाधिमरण व्रत का पालन करने से अन्तरंग भावों में शुद्धता आती है। कषाय मंद पड़ती है। अत: संलेखना धारण करना भी अहिंसा को बढ़ाना है। इस कारण समाधिमरण धारण करना अहिंसा को अधारभूमि प्रदान करना है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में अहिंसा पालन के लिए ही सभी व्रतों का विधान किया गया है। अत: पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ग्रन्थ जैन-धर्म की अहिंसा का प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं। इसमें सभी धर्मों की अहिंसक वृत्ति का समावेश हो गया है, जिसका सूत्र है कि जहां अहिंसा हैं वहां धर्म है, जहां हिंसा है वहां धर्म नहीं है। ग्रन्थकार अमृतचन्द्राचार्य ने निष्कर्ष रूप में कहा है कि जो पुरुष, विवेकी आत्मा अहिंसाव्रत की रक्षा के लिये अन्य समस्त शीलव्रतों का निरन्तर पालन करता है उस साधक व्यक्ति को मोक्षलक्ष्मी उत्सुक पति को स्वयं वरण करने वाली कन्या के समान स्वयं वरण कर लेती है[8] अर्थात् पूर्ण अहिंसक साधक को, मुनि को कोई अलग से प्रयत्न नहीं करना है। यथा-

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि।
वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः॥ 180॥

राग और द्वेष से मुक्त होना अहिंसा है। सब जीवों के प्रति संयम एवं समभाव रखना अहिंसा है। अहिंसा सब प्राणियों का कुशलक्षेम करने वाली है। जो प्राणियों की हिंसा से विरत रहता है उसके कर्म ढ़लान में पानी की तरह नहीं ठहरते हैं। अप्रमादी आत्मा अहिंसक है और जो प्रमादी है वह हिंसक है। इसलिए महावीर ने कहा -"उठो! प्रमाद मत करो प्रमादी को सब ओर से भय रहता है और अप्रमादी को कहीं से भी भय नहीं है। वस्तु-तत्त्व को जानने वाले व्यक्ति प्राणिमात्र को आत्मतुल्य समझ कर उन्हें पीड़ित नहीं करते। वे समझते हैं- जैसे कोई दुष्ट पुरुष मुझे मारता है, गाली देता है, बल से दास-दासी बना अपनी आज्ञा का पालन कराता है, तब मैं जैसा दु:ख अनुभव करता हूँ, वैसे ही दूसरे प्राणी भी मारने-पीटने, गाली देने, बल से दास-दासी बनाने, आज्ञा पालन कराने में दु:ख अनुभव करते होंगे। इसलिये किसी प्राणी को मारना, कष्ट देना, बलात् आज्ञा मनवाना उचित नहीं है। अहिंसा में मैत्री है, सद्भावना है और सौहार्द्र है।[9]"

सन्दर्भ :-

1. व्यवहारनिश्चियौ य: प्रबुध्य तत्वेन भवति मध्यस्थ:।
   प्राप्नोति देशनाया: स एव फलमविकलं शिष्य:॥ - पुरुष. 8
2. विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्वम्।
   यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम्॥ - पुरुष् 15

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यं।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यं । - पुरुष. 63

4. धर्माहि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्व।
इति दुर्विवेककलितां घिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः ।।- पुरुष 80

5. देवतातिथि प्रीत्यर्थ मन्त्रौषधिमयायवा।
न हिंसयाः प्राणिनः सर्वे अहिंसानामसतं व्रतम् ।। वरांगचरित, 15. 112

6. निशायामशनं हेयमहिंसाव्रतवृद्धये।
मूलव्रताविशुद्धयर्थं यमार्थपरमार्थतः ।।- सागारधर्मामृत, 4.241

7. गृहकार्याणि सर्वाणि दृष्टिपूताति कारयेत्।
द्रव्य द्रव्याणि सर्वाणि पटपूतानि योजयेत्।।-उपासकाध्ययन, श्लोक 321

8. पुरुषार्थसिद्धयुपाय - पं. मक्खनलाल शास्त्री तिलक, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्, सोनागिर, दतियो (म.प्र.)

9. जैन संस्कृति और पर्यावरण-संरक्षण, डॉ. प्रेमसुमन जैन, अरविन्द प्रकाशन, उदयपुर

29, विद्या विहार कॉलोनी
उत्तरी सुन्दरवास
उदयपुर - 313 001 (राजस्थान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नर-लोक से किन्नर-लोक तक

— जतनलाल रामपुरिया

दैनिक जीवन में कुछ बातें सहज रूप से सामने आती हैं- इतने सहज रूप से कि उस क्षण उन पर ध्यान नहीं आता। What is the life that full of care, we have no time to stand and stare - नवमी कक्षा के मेरे पाठयक्रम की एक कविता की इन प्रारंभिक पंक्तियों में चित्रित, यंत्र युग की व्यस्तता में अस्त जीवन की विवशता भी बहुत बार चीजों को अनदेखा, अनसुना करने का कारण बनती है। बाद में घटी घटनाएं अथवा समय का अन्तराल उनकी गंभीरता का बोध कराता है, ठीक वैसे ही जैसे कई बार चोट लगने के एक दो-दिन बाद उसकी पीड़ा का अनुभव होता है। भाग्योदय की वेला में, हमारे पास समय होता है to stand and stare। मनन चिंतन के लिए अवकाश के ऐसे क्षणों में भी वे बातें बालसखा-सी बिना पूछे अचानक आकर गले में बाहें डाले कानों में कुछ फुसफुसाती-सी अपना अर्थ बतलाती हैं। अवचेतन मन से चेतन मन में स्थानांतरित होकर वे फिर अनवरत विचारों को झकझोरती रहती हैं। मन में उनकी व्याख्या करने की, उनकी संबद्धता खोजने की विकलता होती है, परन्तु दूसरे छोर पर वे उतने ही तीखेपन से व्याख्यातीत-सी होने का आभास देती रहती हैं।

अपने कुछ ही अनुभवों के बारे में मैं बहुत दिनों से लिखने का सोच रहा था, पर वही कठिनाई मुझे घेरे रही, जिसका उल्लेख मैंने ऊपर किया है। जो भावगत रहा उसे शब्दगत करने का सिरा जैसे मैं पकड़ नहीं पा रहा था। अचानक 9 जुलाई 2005 का The Telegraph समाचार पत्र हाथ में आया। सम्पादकीय के नीचे SCRIPSI में Stephen Harold Spender के इस उद्धरण को मैंने पढ़ा-

But reading is not idlencess.... it is passive, receptive side of civilization without which the active and creative world be meaningless. It is the immortal spirit of the dead realised within the bodies of the living.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसे पढ़कर मुझे अपनी किशोरावस्था और स्कूल के दिन याद आए। दशवीं कक्षा तक सुजानगढ़ (राजस्थान) में पढ़ा था। वार्षिक परीक्षा के बाद दो महीने का ग्रीष्मावकाश होता। 'Idleness' की ही मन:स्थिति के साथ उन छुट्टियों में मैंने प्रेमचंद का पूरा साहित्य, जयशंकर प्रसाद का 'कंकाल' और 'चंद्रगुप्त मौर्य', क. मा. मुंशी का 'जय सोमनाथ', आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'बाणभट्ट की आत्मकथा' एवं सेक्सटन ब्लेक सीरीज के कुछ जासूसी उपन्यास पढ़े। साथ ही टॉलस्टाय, चेखव और मैक्सिम गोर्की की कुछ कहानियाँ भी। सन् 1955 में कलकत्ता आया। सन् 2005 के मई महीने के साथ पूरे हुए इन पचास वर्षों में पढ़ने का शौक होते हुए भी जो पढ़ सका वह केवल इतना-सा ही है- काव्य कृतियों में प्रसाद की 'आँसू' और 'कामायनी', मैथिलीशरण गुप्त की 'साकेत' कन्हैयालालजी सेठिया की 'निष्पत्ति' और 'हेमाणी', आचार्य महाप्रज्ञ की 'ऋषभायण' और गद्य साहित्य में आचार्य महाप्रज्ञ का 'चित्त और मन', शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय का 'गृहदाह', टॉल्स्टाय का 'अन्ना कारेनिना', देवकीनंदन खत्री का 'मृत्यु किरण' व 'रक्त मंडल' और सर आर्थर कोनन डोयल का पूरा कथा-साहित्य। इनके अतिरिक्त गांधी वाड्मय और पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कुछ मनन योग्य सामग्री पर भी यदा कदा दृष्टि पड़ी। बस यही।

Idleness के मनोभावों या मनोरंजन की दृष्टि से पढ़ी गिनती की कुछ पुस्तकें विचारों को वह पुष्टता प्रदान नहीं करती जो क्रमबद्ध और लक्ष्यप्रेरित अध्ययन से प्राप्त होती है पर स्टीफेन हेरोल्ड स्पेन्डर के उक्त उद्धरण ने, अब तक जो थोड़ा-बहुत मैंने पढ़ा था उसके संचित प्रभाव (cumulative effect) को मेरे मस्तिष्क में जैसे एक साथ ही जीवित कर दिया और जिस संदर्भ में मैंने इन पंक्तियों को लिखना प्रारम्भ किया था, उसे किंचित विस्तार देने के लिए विवश भी।

It is inmortal spirit of the dead realised within the bodies of the living - इस पंक्ति के भावों ने पन्द्रह वर्ष की अवस्था में पढ़ी हिन्दी की प्रतिनिधि पुस्तकों में से एक, आचार्य प्रसाद द्विवेदी की उक्त कृति 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को पुन: एक बार मेरे सामने खोल दिया। इस पुस्तक के प्रकाशन की विचित्र पृष्ठभूमि अकस्मात मेरी स्मृति में उभरी। हिन्दी साहित्य को आचार्य द्विवेदी जी की इस देन के पीछे एक विदेशी महिला की आस्था, निष्ठा और लगन है, यह कुछ अनहोनी के घटने जैसा लगता है। पुस्तक के कथामुख (भूमिका) और उपसंहार-अध्याय में जितना कुछ दृश्य है, उससे कहीं अधिक अदृश्य है। इन पंक्तियों का सम्बन्ध इन दो प्रकरणों से ही है, मुख्य कथावृत्त से नहीं। उनमें जो दृश्य है, पहले उसे सार रूप में रखता हूँ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मिस कैथराईन आस्ट्रिया के एक सम्भ्रांत ईसाई परिवार की महिला थीं। अपने देश में ही उन्होंने संस्कृत और हिन्दी का बहुत अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। भारतीय विद्याओं के प्रति असीम अनुराग के वशीभूत, अड़सठ वर्ष की आयु में वे भारत आईं और आठ वर्षों तक यहाँ के ऐतिहासिक स्थानों का अथक भाव से भ्रमण करती रहीं। आचार्य हजारीप्रसाद जी उन्हें दीदी कहा करते थे जो उनके अंचल में दादी का एकार्थक है। उस वृद्धा का भी उन पर पौत्र के समान ही स्नेह था। अपनी कष्ट-साध्य यात्राओं के बाद जब वे आचार्य जी के उधर से निकलतीं तब अपनी पाली हुई बिल्ली के अलावा उनके पास जगह-जगह से इकट्ठी की हुई बहुत-सी पुरातन चीजें होतीं। उनका इतिहास बताते समय उनका चेहरा श्रद्धा से गद्‌गद् हो जाता और उनकी छोटी-छोटी नीली आँखें भावों के उद्रेकवश गीली हो जातीं। उनकी बाल-सुलभ निर्मलता भोलेपन की सीमा को छूती थी। उसका लाभ उठा कर कुछ लोग उनके बहुमूल्य संग्रह में से कुछ चीजें दबा लेते। उन्हें उसका पता भी नहीं चलता।

भारत और भारतीय संस्कृति के साथ उनका गहन लगाव किसी पूर्व जन्म के संस्कारों से अनुबन्धित-सा लगता था। जब वे ध्यानस्थ होतीं तो उनका वलीकुचित मुखमंडल बहुत ही आकर्षक लगता और वे साक्षात् सरस्वती-सी जान पड़तीं। समाधि के उपरान्त उनकी बातों में अनूठी दिव्यता होती।

अंतिम बार में राजगृह से लौटीं। द्विवेदी जी से मिली और बोली "देख, इस बार शोण नद के दोनों किनारों की पैदल यात्रा कर आई हूँ। थकी हुई हूँ। तुम कल आना। दूसरे दिन आचार्य जी जब उनके स्थान पर पहुंचे, तब नौकर ने बतलाया कि उस रात वे दो बजे तक चुपचाप बैठी रहीं और फिर एकाएक अपनी टेबल पर आकर लिखने लगीं। रात भर लिखती रहीं। लिखने में इतनी तन्मय रहीं की दूसरे दिन आठ बजे तक लालटेन बुझाए बिना ही लिखती रहीं। फिर टेबल पर ही सिर रख कर सो गईं और अपराह्न तीन बजे तक सोई रहीं। अब वे स्नान कर के चाय पीने जा रही थीं। आचार्य जी को देखकर बहुत प्रसन्न हुईं और बोली "शोण-यात्रा में मिली सामग्री का हिन्दी रूपान्तर मैंने कर लिया है।... आनन्द से इसका अंग्रेजी में उथला करा ले... और कल पाँच बजे की गाड़ी से कलकत्ते जाकर टाइप करा ला। परसों मुझे इसकी कापियाँ मिल जानी चाहिए।"

आचार्य जी ने सकुचाते हुए पूछा—"दीदी! कोई पाण्डुलिपि मिली है क्या?"

दीदी ने डाँटते हुए कहा, "एक बार पढ़के तो देख।... तू बड़ा आलसी है। देख रे, बड़े दुःख की बात बता रही हूँ।... स्त्रियाँ चाहें भी तो आलस्यहीन होकर कहाँ काम कर सकती हैं?... तू... बाद में पछतायेगा। पुरुष होकर इतना आलसी होना ठीक नहीं। तू समझता है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यूरोप की स्त्रियाँ सब कुछ कर सकती हैं? गलत बात है। हम भी पराधीन हैं। समाज की पराधीनता जरूर कम हैं, पर प्रकृति की पराधीनता तो हटाई नहीं जा सकती। आज देखती हूँ कि जीवन के 68 वर्ष व्यर्थ ही बीत गए।''

दीदी की आँखें गीली हो गईं। उनका मुख कुछ और कहने के लिए व्याकुल था, पर बात निकल नहीं रही थी। न जाने किस अतीत में उनका चित्त धीरे-धीरे डूब गया। जब ध्यान भंग हुआ, तो उनकी आँखों से पानी की धारा बह रही थी और वे उसे पोंछने का प्रयत्न भी नहीं कर रही थीं। आचार्य जी ने अनुभव किया कि दीदी किसी बीती हुई घटना का ताना-बाना सुलझा रही हैं।

आचार्य जी ने कागजों को पढ़ा। शीर्ष के स्थान पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था 'अथ बाणभट्ट की आत्मकथा लिख्यते'। पढ़ने के बाद आचार्य जी को लगा कि दीर्घ काल के बाद संस्कृत साहित्य में एक अनूठी चीज प्राप्त हुई है। आचार्य जी को कलकत्ता में एक सप्ताह लग गया। इस बीच दीदी बिना पता-ठिकाना दिये काशीवास करने चली गईं। दो साल तक वह कथा यूँ ही पड़ी रही। एक दिन अचानक मुगलसराय स्टेशन पर गाड़ी बदलते हुए आचार्य जी को वे फिर मिल गईं। आचार्य जी को देख कर जरा भी प्रसन्न नहीं हुईं। केवल कुली को डाँटकर कहती रही ''संभाल के ले चल, तू बड़ा आलसी है।'' आचार्य जी ने उन्हें कहा, ''दीदी वह आत्मकथा मेरे ही पास पड़ी है।'' दीदी बड़े गुस्से में थीं। रुकी नहीं। गाड़ी में बैठकर उन्होंने एक कार्ड फेंककर कहा, ''मैं देश जा रही हूँ। ले, मेरा पता है। ले भला।''

पुस्तक के प्रकाशन के बीच आचार्य जी को आस्ट्रिया से दीदी का पत्र मिला। वह उपसंहार में संकलित है। इस पत्र से कथा का रहस्य और भी घना होता है। साथ ही उसमें लक्षित दृश्य के ऊपर की अवांछित छाया मन में टीस-सी पैदा करती है। उस छाया की, उस अदृश्य की अनुभूति आपको भी हो, इस दृष्टि से उस पत्र को अंशत: नीचे उद्धृत कर रहा हूँ। मगर उद्देश्य केवल उतना ही नहीं। पत्र का कलेवर जितना छोटा है, कथ्य उतना ही गम्भीर और बहुमूल्य है। अतीत के अतल गह्वर से अवतरण लेती कोई दिव्यात्मा जैसे बतला रही है कि किस तरह सूक्ष्म जगत में सब एक ही ध्रुव पर स्थित हैं। ऊँचा जीवन-दर्शन लिए यह पत्र एक अभिनव, अनूठी अन्त: सृष्टि का बोध कराता है। अदृश्य में से झाँकते उसके इस लावण्य को भी निहारना आप न भूलें।

''छ: वर्षों से आस्ट्रिया के दक्षिणी भाग में निराशा औ पस्तहिम्मती की जिन्दगी बिता रही हूँ। तुमने युद्ध के घिनौने समाचार पढ़े होंगे, लेकिन उसके असली निर्घृण क्रूर रूप को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुम लोगों ने नहीं देखा। देखते तो मेरी ही तरह तुम लोग भी मनुष्य-जाति की जययात्रा के प्रति शंकालु हो जाते।... तूने 'बाणभट्ट की आत्मकथा' छपवा दी, यह अच्छा ही किया। पुस्तक रूप में न सही, पत्रिका रूप में छपी कथा को देख सकी हूँ, यही क्या कम है। अब मेरे दिन गिने ही रहे हैं।... मैं अब फिर तुम लोगों के बीच नहीं आ सकूँगी। मैं सचमुच संन्यास ले रही हूँ। मैंने अपने निर्जन वास का स्थान चुन लिया है। यह मेरा अन्तिम पत्र है। 'आत्मकथा' के बारे में तूने एक बड़ी गलती की है। तूने उसे अपने 'कथामुख' में इस प्रकार प्रदर्शित किया है मानो वह 'आटो-बॉयोग्राफी' हो। ले भला! तूने संस्कृत पढ़ी है, ऐसी ही मेरी धारणा थी, पर यह क्या अनर्थ कर दिया तू ने? बाणभट्ट की आत्मा शोण नद के प्रत्येक बालुका-कण में वर्तमान है। छि: कैसा निबोध है तू, उस आत्मा की आवाज तूझे नहीं सुनाई देती?... तुझे इतना प्रमाद नहीं शोभता।

उस भाग्यहीन बिल्ली ने बच्चों की एक पल्टन खड़ी कर दी है।... मैं कहाँ तक सम्हालूँ। जीवन में एक बार जो चूक हो जाती है वह हो ही जाती है। इस बिल्ली का पोसना भी एक भूल ही थी। तुमसे मेरी एक शिकायत बराबर रही है। तू बात नहीं समझता। भोले, 'बाणभट्ट' केवल भारत में ही नहीं होते। इस नर-लोक से किन्नर-लोक तक एक ही रागात्मक हृदय व्याप्त है। तूने अपनी दीदी को कभी समझने की चेष्टा भी की! प्रमाद, आलस्य और क्षिप्रकारिता- तीन दोषों से बच। अब रोज-रोज तेरी दीदी इन बातों को समझाने नहीं आएगी। जीवन की एक भूल-एक प्रमाद- एक असमंजस न जाने कब तक दग्ध करता रहता है। मेरा आशीर्वाद है कि तू इन बातों से बचा रहे। दीदी का स्नेह। -कै.''

इसे पढ़ कर आचार्यजी के मन में जो प्रतिक्रिया हुई उसका भी उल्लेख यहाँ आवश्यक है- ''... मुझे याद आया कि दीदी उस दिन (राजगृह से लौटने के दिन) बहुत भाव-विह्वल थीं। उन्होंने (राजगृह में मिले) एक श्रृगाल की कथा सुनानी चाही थी। उनका विश्वास था कि (वह) श्रृगाल बुद्धदेव का समसामयिक था। क्या बाणभट्ट का कोई समसामयिक जन्तु भी उन्हें मिल गया था? शोण नद के अनन्त बालुका-कणों में से न जाने किस कण ने बाणभट्ट की आत्मा की यह मर्मभेदी पुकार दीदी को सुना दी थी। हाय, उस वृद्ध हृदय में कितना परिताप संचित है! अस्त्रियवर्ष की पवनकुमारी देवपुत्र-नन्दिनी क्या आस्ट्रिया-देशवासिनी दीदी ही हैं? उनके इस वाक्य का क्या अर्थ है कि 'बाणभट्ट केवल भारत में ही नहीं होते।' आस्ट्रिया में जिस नवीन 'बाणभट्ट' का आविर्भाव हुआ था, वह कौन था। हाय, दीदी ने क्या हम लोगों के अज्ञात अपने उसी प्रेमी की आँखों से अपने को देखने का प्रयत्न किया था।... दीदी के सिवा और कौन है जो इस रहस्य को समझा दे? मेरा मन उस 'बाणभट्ट' का सन्धान पाने को व्याकुल है। मैंने क्यों नहीं दीदी से पहले ही पूछ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लिया। मुझे कुछ तो समझना चाहिए था। लेकिन 'जीवन में जो भूल एक बार हो जाती है वह हो ही जाती है।' ''

अब दीदी के पत्र पर पुन: ध्यान दें। Immortal spirit of the dead जिसे आस्ट्रिया की उस वृद्धा ने अपने अंदर realise किया था, उनका पत्र उस realisation की अभिव्यक्ति है। दृश्य और अदृश्य के इस छोटे-से जगत के पार किन्नर-लोक तक फैले एक ही रागात्मक हृदय के साथ तादात्म्य दीदी को युद्ध की विभीषिका के बीच शोण नद के प्रत्येक बालुका-कण में बाणभट्ट की आत्मा के अस्तित्व की अनुभूति देता है। वही तादात्म्य आस्ट्रिया में भी बाणभट्ट से 'साक्षात्कार' का साक्षी बनता है। सूक्ष्म जगत में दूरी का बन्धन नहीं। बाणभट्ट जन्में और मर गए, यह केवल स्थूल पर टिकी अपारदर्शी आंखों का सत्य है, वहाँ का नहीं। आलस्य, प्रमाद और क्षिप्रकारिता से मुक्त दीदी की आत्मा देह के भीतर भी रमती थी। वह अन्तर्जगत की उस रागात्मक लय से अनुबन्धित थी जो अद्वैत रूप में सर्वत्र व्याप्त है, इसलिए शोण नदी की लहरों ने उन्हें वह सब कह दिया जो वे हमें नहीं बतलातीं और इसीलिए उसके तट पर बिछे रजकणों ने अक्षर बन कर उनके लिए अतीत के वे पृष्ठ खोल दिए जिन्हें हम नहीं पढ़ पाते।

आस्ट्रिया की वह वृद्धा, जिसे मैंने कभी देखा नहीं, पाँच दशकों से अनजाने रूप में मन में छाई रही है। 'भोले! बाणभट्ट केवल भारत में ही नहीं होते' इस एक वाक्य में उन्होंने एक महाग्रन्थ की ही रचना कर दी। महाग्रन्थ या महापुरुष, ये किसी को भी सम्पूर्ण जीवनचर्या नहीं सिखाते। यह दायित्व वे कभी लेते ही नहीं। वे केवल हमारी अन्तश्चेतना को जागृत करते हैं और हमें सूत्र देते हैं, उस रागात्मक हृदय के साथ आत्मानुभूति का, जो नर-लोक से किन्नर-लोक तक व्याप्त है। 'बाणभट्ट केवल भारत में ही नहीं होते'- यह कथन वैसा ही सूत्र है।

अपनी वृद्धावस्था को भूल कर, सत्य की खोज में भटकती, हर व्यक्ति में बाणभट्ट को देखती, एक जन्तु की आँखों में बुद्ध के संदेश को पढ़ती उस आस्ट्रिया महिला ने मुझे उन अच्छाइयों को, जिनसे प्रकृति ने जड़ और चेतन सबको समान रूप से अलंकृत किया है, देखने की दृष्टि दी, जिनके पास से मैं उस कथन को याद रखे बिना यों ही निकल जाता। सर आर्थर कोनन डोयल के कथा-साहित्य को पढ़ते समय उस कथन की गहनता का मुझे और भी तीव्रता से अनुभव हुआ और मुझे लगा कि हितोपदेश की बातें केवल नीति ग्रन्थों में ही नहीं, जासूसी कहानियों में भी पढ़ी जा सकती हैं। प्रकाश की किरणें परावर्तित होती हैं ताकि कहीं से कुछ अंधकार में झाँकता रहे। मन के ब्रह्मांड में भी सद्विचारों के तारे टिम-टिम करते हैं और इसलिए अन्तरिक्ष की तरह अन्तर का भी एक-न-एक कोना सदा आलोकित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहता है- सर डोयल की कहानियाँ मुझे यह कहती-सी प्रतीत हुई। अपनी उस अनुभूति को भी आज व्यक्त करता हूँ।

सर आर्थर डोयल विश्व के सर्वाधिक पढ़े जाने वाले लेखकों में से एक हैं। लगभग सभी देशों की प्रमुख भाषाओं में उनकी रचनाओं का अनुवाद हुआ है। गहन षड़यंत्रों की पृष्ठभूमि पर बुना सशक्त कथानक, रोमांचक परिस्थितियाँ, अविरल प्रवाह, बाँध लेने वाली भाषा, चुस्त संवाद और अमलिन अभिव्यक्ति- इन सबके सम्मिलित स्वरों ने उनके साहित्य को वह ऊँचाई दी है जहाँ पहुंचकर लेखनी तूलिका बनती है और लेखन एक जीवंत चित्र-कृति की आकृति लेता है। अपराध जगत की जटिल गुत्थियाँ उनकी भाषाओं के विषय हैं और उन्हें सुझलाने में मन और मस्तिष्क की अतल गहराइयों तक उलझे शरलॉक होम्स नाम के गुप्तचर उन कथाओं के नायक। सर डोयल के उपन्यासों और कहानियाँ में एक ओर हिंसा और प्रतिहिंसा, घात और प्रतिघात व प्रहार और प्रतिशोध के दुर्दान्त चक्रव्यूह हैं तो दूसरी ओर अपराधों के प्रति निर्लिप्त और उदासीन बने रहकर उन्हें देखते रहने की प्रवृत्ति के साथ समझौता न कर पाने की शरलॉक होम्स की विवशता है।

भय और आतंक, उत्पीड़न और अत्याचार एवं कपट और क्रूरता की शतरंज बिछाएं माफिया वृत्ति के जीवित मोहरे और उन्हें मात देने के लिए कटिबद्ध अपने प्राण हथेली में लिए उनके पीछे लगे शरलॉक होम्स! फिर भी हजारों पृष्ठों के साहित्य में दो-चार स्थलों को छोड़ कर कथा-नायक होम्स द्वारा न कहीं हथियारों का उपयोग हुआ है, न ही कहीं हाथों का। अपराध और उससे जुड़े घटनाक्रम पर वे अपने घर में बैठे विभिन्न कोणों से चिन्तन करते हैं, सुरागों को जाँचते-परखते हैं और art of deduction की अपनी अद्‌भुत क्षमता के बल पर उन सूत्रों तक पहुंचते हैं जो अपराधी के मन्तव्य और उसकी प्रणाली को स्पस्ट करते हैं। अन्ततः जब वे अपराधी को कानून के सुपुर्द करते हैं, या कुछ कथाओं में जब वह मरता है तो जैसे अपने कर्मों का ही फल भोग रहा होता है। होम्स के मन में अपराधी के प्रति कोई द्रोह, दुर्भाव नहीं होता, इसलिए एक प्रतिद्वन्द्वी द्वारा पराजित किए जाने का भाव अपराधी को पीड़ा नहीं देता। उसे अपने दुष्कर्मों का, अपने पापों का बोध होता है या फिर आदमी द्वारा बनाई गई दोषपूर्ण और नकारात्मक व्यवस्था का वह पक्ष सामने आता है जो उसे अपराध करने के लिए विवश करता है।

चार उपन्यास और छप्पन कहानियों में, अधिकांश जिनमें बहुत लम्बी हैं, न कहीं श्लीलता का उल्लंघन है, न अपराधी के प्रति हिंसक भावों का उद्रेक। अपराधों की पृष्ठभूमि पर भी ऐसा साफ-सुथरा सृजन कैसे हुआ? कर्म-नियति के स्वतःस्फूर्त और स्वचालित अनुशासन के अधीन, दुष्कर्म स्वयं ही कर्त्ता को सजा देते हैं- दर्शन-ग्रन्थों का यह सार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जासूसी कहानियों में कैसे प्रवाहित हुआ? शरलॉक होम्स के साहसिक और संकटपूर्ण कारनामों को पढ़ते समय मुझे बार-बार ऐसा लगता रहा कि उसके रचनाकार सर आर्थर कोनन डोयल भी भाव-जगत की उसी प्रकम्पन-श्रृंखला से बंधे थे, बाणभट्ट से दीदी तक जिसका संचरण था और उन सब तक है जो नर-लोक से किन्नर-लोक तक एक ही रागात्मक संवेदना का अनुभव करते हैं और उस रागात्मक में, दीदी की तरह राग-मुक्त होने की ध्वनि सुनते हैं। जिस तरह बाणभट्ट केवल भारत में भी नहीं होते, उसी तरह हितोपदेश भी केवल ज्ञान-ग्रन्थों में ही सीमित नहीं हैं। वह सियार जो दीदी को बुद्ध का सम-सामायिक लगा था, उनके संदेश को सर डोयल की लेखनी में भी डाल देता है।

कहीं पढ़ा था- 'उस मक्खी का भाग्य कोई बदले जो गन्दगी पर ही बैठती है।' मधु से परिचय ही उसका भाग्य बदल सकता है। 'बाणभट्ट केवल भारत में ही नहीं होते'- इसका कथ्य उसके पंखों को फूलों की ओर उड़ना सिखाता है और उसे पराग की पहचान देता है। दीदी की यह बात हमें बतलाती है कि जड़ और चेतन का समन्वित रूप ही पूर्ण सत्य है, पर उसे देख पाने की क्षमता चक्षुओं में नहीं, हमारे निरामय मनोभावों में है और उन क्षणों में है जब हमें अवकाश होता है to stand and stare, जब हमें अवकाश होता है to stand and pick up all that is good around us; जब हमें अवकाश होता है to stand and see a lovely garden in a single rose और जब हमें अवकाश होता है to stand and realise the immortal spirit of the dead within us.

अतीत की अमृत ऊर्जा के स्पन्दनों की अनुभूति हमें वहाँ ले चलती है जहाँ सत्य है, शिव है, सुन्दर है, जिन्हें दीदी शोण नदी के बालुका कणों से लेकर आस्ट्रिया तक बाणभट्ट के रूप में खोजा करती थीं और देख भी लेता थीं।

15 नूरमल लोहिया लेन
कोलकता 700 007

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धों के अनेक भेदों का प्रतिपादन

— साध्वी श्रुतयशा

सामान्यतया संसार में अनेकता, सिद्धि में एकता, जगत में नानात्व, ब्रह्म में एकत्व को रूपायित किया जाता है। लेकिन जैन-दर्शन अनेकान्तवादी है। जहाँ भी पक्ष है तो प्रतिपक्ष भी है। सिद्धि का स्वरूप भी अनेकान्त के नियम का अपवाद नहीं। वर्तमान स्थिति के आधार पर सिद्ध-आत्माएं सभी समान हैं, एक रूपता के सूत्र से आबद्ध हैं। साथ ही पूर्व पर्याय की अपेक्षा से उनमें अनेकान्त या बहुरूपता भी विद्यमान हैं।

काल पर्याय सापेक्ष यदि सिद्ध केवल ज्ञान के भेद करें तो दो स्थितियाँ सामने आती हैं—

1. अनन्तरसिद्ध केवल ज्ञान- सिद्ध अवस्था में प्रथम क्षणवर्ती केवलज्ञान को अनन्तरसिद्ध केवलज्ञान कहा जाता है। एक प्रकार से यह चरम समय अयोगिभवस्थ केवलज्ञान ही है। चूंकि जो संसारावस्था का अन्तिम क्षण है वही मुक्तावस्था का प्रथम क्षण है।

2. परम्पर सिद्ध केवलज्ञान- प्रथम समयवर्ती सिद्ध के अतिरिक्त सभी सिद्धों का केवलज्ञान परम्परसिद्ध केवलज्ञान कहलाता है। देववाचक ने अप्रथम समयसिद्ध, द्वितीय समयसिद्ध, तृतीयसमयसिद्ध यावत् अनंत समयसिद्ध भेद किए हैं। अत: परम्परसिद्ध के अनंत भेद हो सकते हैं। विशेषता यह है कि सिद्धों के प्रथम समय सिद्ध और अप्रथम समय सिद्ध— ये भेद तो हो सकते हैं पर भवस्थ केवालियों के समान चरमसमयसिद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि सिद्ध अवस्था सादि अनन्त हैं।

अनन्तर सिद्धों के देववाचक ने पन्द्रह भेद किए हैं। वे भेद स्थानांगसूत्र एवं प्रज्ञापना सूत्र में भी उपलब्ध होते हैं।[1] तत्त्वार्थसूत्र में सिद्धों के ये पन्द्रह भेद तो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपलब्ध नहीं होते किंतु उसमें सिद्धों के प्रसंग में बारह अनुयोग द्वारों का विवेचन किया गया है। जिनके आधार पर सिद्धों के पन्द्रह से भी अधिक भेद किए जा सकते हैं। तत्त्वार्थसूत्रगत अनुयोग द्वारों की व्यापकता को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन जैन वाङ्मय में अन्य विषयों के समान सिद्धों की विक्षेप एवं अनुयोगविधि से व्याख्या की गई होगी। अनुयोग पद्धति से व्याख्या करना जैन विवेचन शैली की अपनी विशेषता रही है। अनुमान यह भी किया जाता है कि यह पूर्वों की व्याख्या शैली का ही उपदर्शन है। स्मृति, मेधा आदि की अल्पता के कारण जैसे-जैसे अपृथक्त्वानुयोग की पद्धति संकुचित होती गई, पूर्व साहित्य का भी लोप होता गया तथा अल्पमति पुरुषों की बोधगम्यता के लिए विषय विवेचना में संक्षिप्त शैली का उपयोग किया जाने लगा। सम्भवत: श्यामाचार्य ने उसी उपयोगिता की दृष्टि से सिद्धों के इन पन्द्रह भेदों का अवतरण किया हो।

मलयगिरी ने अनन्तरसिद्धों का सत्पदप्ररूपणा, द्रव्य प्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शना, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व— इस आठ तथा परम्पर सिद्धों का सन्निकर्ष सहित नौ अनुयोग द्वारों का क्षेत्र, काल, गति, वेद, तीर्थ, लिंग, चरित्र, बुद्ध, ज्ञान, अवगाहना, उत्कर्ष, अन्तर, अनुसमय, गणना एवं अल्प बहुत्व— इन पंद्रह-पंद्रह द्वारों से विवेचन किया है।

उमास्वाति के समान उनका भी आधार सिद्धप्राभृत है।[2] विस्तार भय से उनका वर्णन यहां नहीं किया जा रहा है। अनन्तर सिद्धों की अपेक्षा से केवलज्ञान के पंद्रह भेद है—

1. तीर्थसिद्ध— तीर्थ का शब्दिक अर्थ है— घाट। संसार समुद्र से पार पाने के लिए चातुर्वर्ण धर्मसंघ को तीर्थ से उपमित किया जाता है। तीर्थ प्रवर्तन के पश्चात् उस श्रमण संघ में प्रवज्या प्राप्त कर, केवलज्ञान एवं सिद्धगति को प्राप्त होने वाले जीव तीर्थसिद्ध कहलाते हैं।[3] तत्त्वार्थसूत्र में भी पांचवां अनुयोगद्वार तीर्थ है।[4]

2. अतीर्थसिद्ध— जो तीर्थंकर प्रवर्तित श्रमणसंघ के अनस्तित्वकाल में मुक्त होते हैं वे अतीर्थसिद्ध कहलाते हैं। चूर्णिकार ने मरुदेवी को अतीर्थसिद्ध कहा है।[5] तीर्थस्थापना से पूर्व कोई मोक्षमार्ग को कैसे प्राप्त करता है? कौन उसका मार्गोपदेशक होता है? इस विषय में हरिभद्र का मत है कि जातिस्मरण आदि अतीन्द्रिय ज्ञानों से प्राप्त बोधि हो उनकी मार्ग-दर्शिका है।[6] मलयगिरी ने अतीर्थ के दो अर्थ किए हैं- 1. तीर्थ की अनुत्पत्ति एवं 2. तीर्थ विच्छेद। मरुदेवी माता तीर्थ स्थापना से पूर्व सिद्ध हुई, अत: अतीर्थसिद्ध है। वैसे ही चन्द्रप्रभु एवं सुविधि प्रभु के अन्तराल काल में तीर्थविच्छेद होने पर सिद्धगति को प्राप्त करने वाले भी अतीर्थ सिद्ध है।[7]

सिद्धसेनगणि ने तीर्थ-अनुयोगद्वार में 'सिद्धप्राभृत' को उद्धृत करते हुए तीर्थकरीतीर्थसिद्ध, नोतीर्थसिद्ध आदि अन्य भेदों का उल्लेख भी किया है।[8]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

3. तीर्थंकरसिद्ध— ऋषभ आदि जो तीर्थंकरनामकर्म के कारण तीर्थस्थापना एवं भव्यजनों का उपकार करते हुए तीर्थंकर अवस्था में मुक्त होते हैं वे तीर्थंकरसिद्ध हैं।[9] सिद्धसेनगणि ने तीर्थंकरसिद्धों को 'प्रत्येकबुद्धबोधित' अनुयोगद्वार के प्रथमविकल्प में परिगणित किया है।[10]

4. अतीर्थंकरसिद्ध— गौतम आदि सामान्य केवली जो तीर्थस्थापना में प्रवृत्त नहीं होते, अतीर्थंकरसिद्ध कहलाते हैं। तीर्थंकर के अतिरिक्त प्रत्येक बुद्ध, परबोधक एवं स्वेष्टकारी- तीनों ही विकल्प अतीर्थंकर हैं।[11]

5. स्वयंबुद्धसिद्ध— जो स्वयं तत्त्व को जानता है, बोधि के लिए दूसरे के प्रतिबोध की अपेक्षा नहीं रखता, वह स्वयंबुद्ध कहलाता है।[12] स्वयंबुद्ध के दो प्रकार हैं- तीर्थंकर और तीर्थंकर व्यतिरिक्त। तीर्थंकरसिद्ध का वर्णन तीसरे प्रकार में किया जा चुका है। यहां तद्व्यतिरिक्त स्वयंबुद्धों का ही ग्रहण करना चाहिए। नन्दीचूर्णि के अनुसार स्वयंबुद्ध के दो अर्थ हो सकते हैं—

(क) जातिस्मरण आदि के द्वारा बोधि प्राप्त करने वाले।

(ख) बाह्य निमित्त के बिना बोधि प्राप्त करने वाले।[13]

6. प्रत्येक बुद्धसिद्ध— किसी एक बाह्य निमित्त के आलम्बन से स्वयं बोधि प्राप्त कर मुक्त होने वाले प्रत्येक बुद्ध सिद्ध कहलाते हैं।[14] सिद्धसेन गणि ने इसके उदाहरण रूप में करकण्डू को प्रस्तुत किया है।[15] उत्तराध्ययन सूत्र में चार प्रत्येक बुद्धों का वर्णन मिलता है- करकण्डू, द्विमुख, नाभि और नग्गति।[16]

7. बुद्धबोधितसिद्ध— बुद्धबोधित के चार अर्थ किए जा सकते हैं-

(क) बुद्ध (तीर्थंकरों आदि स्वयं बुद्धों) से बोधि प्राप्त।

(ख) बुद्ध (कपिल आदि प्रत्येक बुद्धों) से बोधि प्राप्त।

(ग) बुद्धबोधित (सुधर्मा आदि) से बोधि प्राप्त।

(घ) प्रतिबुद्ध (प्रभव आदि) से बोधि प्राप्त।[17]

हरिभद्र एवं मलयागिरी ने बुद्धबोधित का अर्थ आचार्य द्वारा बोधि प्राप्त किया है।[18] सिद्धसेन गणि ने बुद्ध बोधित के दो अर्थ किए हैं— परबोधक तथा स्वेष्टकारी।[19]

8. जो स्त्री की शरीर रचना में— स्त्रीरूप में सिद्ध होता है वह स्त्रीलिंगसिद्ध कहलाता है। लिंग शब्द के तीन अर्थ होते हैं- (क) वेद-कामविकार (ख) शरीर रचना (ग) नेपथ्य-वेशभूषा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्त्रीलिंगसिद्ध के प्रसंग में लिंग शब्द का द्वितीय अर्थ विवक्षित है जबकि स्वलिंग, अन्यलिंग तथा गृहलिंग के प्रसंग में उसका नेपथ्य अर्थ विवक्षित है। वेद (कामविकार) मुक्ति में बाधक है, अतः उसके सद्भाव में सिद्धि नहीं हो सकती।

जीव विज्ञान में शरीर रचना का नियामक है- गुणसूत्र। जैन दर्शन के अनुसार उसके हेतु हैं- शरीर नामकर्म का उदय एवं वेद का उदय। नामकर्म कुम्भकार के समान सब प्रकार की शरीर रचना में समर्थ होने पर भी वेद के अनुसार ही स्त्री-पुरुष आदि का निर्माण करता है जैसे कुम्भकार सामयिक मांग के अनुसार घट, क्लश, दीपक आदि का निर्माण करता है।

9. पुरुषलिंगसिद्ध— पुरुष रूप में मुक्त होने वाले पुरुषलिंग कहलाते हैं।

10. नपुसंकलिंगसिद्ध— नपुंसक चारित्र का अधिकारी नहीं होता।[20] तब वह मुक्त कैसे हो सकता है? अभयदेवसूरि के अनुसार यहां नपुंसक का अर्थ पुरुष नपुंसक या कृतनपुंसक है।[21]

किसी कारण विशेष से नपुंसकत्व को प्राप्त व्यक्ति मुक्त होता है वह नपुंसकलिंग सिद्ध है। सिद्धसेनगणि ने लिंग और वेद को एकार्थक माना है, अतः उनके अनुसार ये तीनों भेद पूर्वभाव प्रज्ञापनीय (द्रव्यार्थिक नय) के अनुसार हैं।[22]

11. स्वलिंगसिद्ध— जो जैन श्रमणवेश- रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि को धारण कर मुक्त होता है वह स्वलिंग सिद्ध कहलाता है।[23] वस्तुतः यह द्रव्यलिंग है। भावलिंग है- अनगारत्व।

12. अन्यलिंगसिद्ध— तापस, परिव्राजक आदि अन्य श्रमणों के वेश में मुक्त होने वाला अन्यलिंग सिद्ध कहलाता है।[24]

13. गृहलिंगसिद्ध— गृहस्थवेश में - वस्त्रालंकारों से विभूषित अवस्था में सिद्ध होने वाले गृहलिंग सिद्ध कहलाते हैं।[25] उमास्वाति तथा सिद्धसेनगणि ने भी द्रव्यलिंग के विषय में इन तीनों प्रकारों का वर्णन किया है।[26]

14. एकसिद्ध— एक समय में एक जीव सिद्ध होता है। वह एक सिद्ध कहलाता है।

15. अनेकसिद्ध— युगपत अनेक सिद्ध होने वाले जीव अनेक सिद्ध कहलाते हैं। जिनदासगणि के अनुसार एक साथ जब अनेक जीव सिद्ध होते हैं तब निरन्तर कितने समय तक सिद्ध होने का क्रम चालू रहता है, इसका नियम इस प्रकार है—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक समय में	समय नैरन्तर्य
32 सिद्ध	8 समय तक
48 सिद्ध	7 समय तक
60 सिद्ध	6 समय तक
72 सिद्ध	5 समय तक
82 सिद्ध	4 समय तक
96 सिद्ध	3 समय तक
108 सिद्ध	1 समय तक

नन्दी चूर्ण के इस विवरण का आधार बृहत्संग्रहिणी (गाथा 333) है।[27] उत्तराध्ययन सूत्र में लिंग (शरीर रचना व नेपथ्य) अवगाहना (सिद्धावस्था से पूर्व के शरीर की लम्बाई) तथा सिद्ध क्षेत्र की अपेक्षा अनेक सिद्ध का नियम इस प्रकार है—

नपुंसक		स्त्री		पुरुष
10		20		108
गृहिलिंग		अन्यलिंग		स्वलिंग
4		10		108
उत्कृष्टअवगाहना		जघन्य अवगाहना		मध्यम अवगाहना
2		4		108
ऊर्ध्वलोक	समुद्र	अन्य जलाशय	नीचालोक	तिर्यक लोक
4	2	3	20	108

पूर्व अवस्था की अपेक्षा से उत्तराध्ययनसूत्र में ये चौदह भेद भी उपलब्ध होते हैं।[28] तत्त्वार्थसूत्र में इनके अतिरिक्त काल, गति, चारित्र, ज्ञान आदि अनुयोगद्वारों के आधार पर अन्य भेद भी निष्पन्न हो जाते हैं।[29]

सिद्ध होने के बाद सब जीव समान हो जाते हैं, फिर उसके अनेक भेदों का प्रतिपादन क्यों? प्रतीत होता है कि यह जैन-दर्शन की व्यापकता का सर्वोत्कृष्ट सूत्र है। मुक्ति पर किसी जाति, वर्ण, लिंग, सम्प्रदाय का एकाधिकार नहीं। श्रमण संघ में दीक्षित हो या नहीं, विभिन्न चामत्कारिक शक्तियों में संवलित अर्हत् हो या सामान्य रूप से जीवन जीने वाला, स्त्री हो या पुरुष, श्रमण, तापस या गृहस्थ वेश हो, प्रत्येक अवस्था में जीव पुरुषार्थ के द्वारा सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त कर सकता है। आन्तरिक योग्यता को मुख्यता देने वाला यह सूत्र अनेकान्त का प्रवर प्रतिष्ठापक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संदर्भ सूची-

1. (क) ठाणं 1.220-234
   (ख) उवंगसुत्ताणि, पण्णवणा सूत्र 1.12
2. नन्दी, मलयगिरीया वृत्ति, पृ. 113-130
3. नन्दीचूर्णि, पृ. 26
4. सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्र- 10.7
5. नन्दी, हारिभद्रीया टीका, पृ. 39
6. नन्दी चूर्णि पृ. 26
7. नन्दी-मलयगिरीया- वृत्ति, पृ. 130
8. तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी टीका, पृ. 308
9. नन्दी चूर्णि- पृ. 26
10. तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी टीका, पृ. 309
11. नन्दीचूर्णि, पृ. 26
12. तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी टीका, पृ. 309
13. उत्तरज्झायणाणि, शान्त्याचार्यकृत वृत्ति पृ. 306
14. नन्दीचूर्णि, पृ. 26
15. वही
16. तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी टीका पृ. 310
17. विशेष विवरण हेतु द्रष्टव्य-उत्तरज्झयणाणि, 18/46 का टिप्पण
18. नन्दीचूर्णि पृ. 26-27
19. (क) नन्दी, हारिभद्रीया टीका, पृ. 39
    (ख) नन्दी, मलयगिरीया वृत्ति, पृ. 131
20. तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी टीका, पृ. 310
21. अंगसुत्ताणि, भगवई 25/286-292
22. भगवती वृत्ति, पृ. 893
23. तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी टीका, पृ. 307
24. नन्दीचूर्णि, पृ. 27
25. वही
26. वही
27. तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी टीका, पृ. 308
28. नन्दीचूर्णि, पृ. 27
29. उत्तरज्झयणाणि 36/48-50

सम्पर्क
जैन विश्व भारती
लाडनूँ - 341 306 (राजस्थान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवती आराधना में निदान वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में

— डॉ. पारसमल अग्रवाल

निदान का अभिप्राय क्या है? निदान कितनी तरह के होते हैं? निदान उचित है या अनुचित? यदि निदान अनुचित है तो प्रार्थना में क्या मांगा जाये? निदान फलता है या नहीं? आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन इस विषय में क्या कहता है? मनोकामनाएं पूर्ण होने के मामले में क्या किसी तरह के वैज्ञानिक प्रयोग हुए हैं? आधुनिक मनोवैज्ञानिक इस विषय में क्या कहते हैं? इत्यादि प्रश्नों का संक्षिप्त विश्लेषण भगवती आराधना, अन्य जैन ग्रन्थ एवं अन्य प्रकाशित जानकारी के आधार पर इस लेख में दिया जा रहा है।

निदान का अभिप्राय -

भगवती आराधना[1] में आचार्य श्री शिवार्य लिखते हैं- 'इदमेव स्यादनागते काले इति मनसः प्रणिधानं न च तदसंज्ञिष्वस्ति' अर्थात् आगामी काल में यही होना चाहिए, इस प्रकार के मन के उपयोग को निदान कहते हैं। असंज्ञियों में इस प्रकार का निदान नहीं होता।[2] भगवती आराधना में यह भी कहा है- "रत्नत्रय अथवा अनन्त ज्ञानादिरूप मुक्ति से अन्यत्र चित्त का उपयोग लगाना कि इसका यह फल मुझे मिले, निदान है।" निदान न केवल अगले भव के लिए होता है अपितु इस भव के लिए भी होता है। भगवती आराधना में निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है—

"इस व्रतशील आदि के प्रभाव से इस भव में और पर भव में इस प्रकार के भोग मुझे प्राप्त हों, इस प्रकार मन के संकल्प को भोग निदान कहते हैं। असंयत सम्यग्दृष्टि अथवा संयतासंयत के निदान शल्य कहलाते हैं।"

निदान का उल्लेख तत्त्वार्थसूत्र के[2] निःशल्यो व्रती की व्याख्या करते हुए राजवार्तिक में आचार्य अकलंक देव लिखते हैं- "विषयभोगाकांक्षा निदानम्"[3]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् विषयभोग की आकांक्षा निदान है। इसी तरह सूत्र 7.37 में इस सन्दर्भ में यह बताया है कि आगे भोगों की आकांक्षा करना निदान है।

निदान के प्रकार

भगवती आराधना में निदान के तीन भेद बतलाएं हैं[4] -

तत्थं णिदाणं तिविहं होई पसत्थापसत्थभोगकदं।
तिविधं पि तं णिदाणं परिपंथो सिद्धिमग्गस्स॥

"उन शल्यों में निदान नामक शल्य के तीन भेद हैं- प्रशस्त निदान, अप्रशस्त निदान और भोग निदान। तीनों ही प्रकार के निदान मोक्ष के मार्ग रत्नत्रय के विरोधी हैं।"

आराधना में प्रशस्त निदान का वर्णन इस प्रकार हैं[5] – 'संयम में निमित्त होने से पुरुषत्व, उत्साह, शरीरगत दृढ़ता, वीर्यान्तराय के क्षयोपक्षम से उत्पन्न वीर्यरूप परिणाम, अस्थियों के बंधन विशेष रूप वज्र ऋषभनाराच संहनन आदि संयम साधन मुझे प्राप्त हों, इस प्रकार चित्त में विचार होना प्रशस्त निदान है तथा मेरा जन्म श्रावक कुल में हो। ऐसे कुल में हो जो दरिद्र न हो, बन्धु बांधव परिवार न हो, ऐसी प्रार्थना प्रशस्त निदान है।'

अप्रशस्त निदान को समझाते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं[6]- 'मान कषाय के वश जाति, कुल, रूप आदि तथा आचार्यपद, गणधरपद, जिनपद, सौभाग्य, आज्ञा और आदेय आदि की प्राप्ति की प्रार्थना करना अप्रशस्त निदान है।' अन्य के वध की कामना करना भी अप्रशस्त निदान के अन्तर्गत आता है।

भोग निदान को समझाते हुए लिखते हैं[7]–'देवों और मनुष्यों में होने वाले भोगों की अभिलाषा करना तथा भोगों के लिए नारीपना, ईश्वरपना, श्रेष्ठिपना, सार्थवाहपना, नारायण और सकल चक्रवर्तीपना प्राप्त होने की वांछा करना भोग निदान है।'

निदान करना अनुचित

निदान आर्त्तध्यान है। निदान न करने की प्रेरणा भगवती आराधना ग्रन्थ में कई गाथाओं में दी गई है। कुछ गाथाएं निम्नानुसार हैं-

'जो निदान करता है वह लोहे की कील के लिए अनेक वस्तुओं से भरी नाव को जो समुद्र में जा रही है, तोड़ता है, भस्म के लिए गोशीर्षचन्दन को जलाता है और धागा प्राप्त करने के लिए मणिनिर्मित हार को तोड़ता है। इस तरह जो निदान करता है वह थोड़े से लाभ के लिए बहुत हानि करता है।'[8]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'जैसे कोई कोढ़ी मनुष्य अपने रोग के लिए रसायन के समान ईख को पाकर उसे जलाकर नष्ट करता है वैसे ही भोग के लिए निदान करके मूर्ख मुनि सर्व दु:ख और व्याधियों का विनाश करने में तत्पर मुनिपद को नष्ट करता है।'[9]

'मोक्ष के अभिलाषी मुनिगण ''मैं मरकर पुरुष होऊं'' या ''मेरे वज्रऋषभनाराच संहनन आदि हो'', इस प्रकार का भी निदान नहीं करते, क्योंकि पुरुष आदि पर्याय भवरूप है और भवपर्याय का परिवर्तन स्वरूप होने से संसार भवमय है अर्थात् नाना भवधारण करने रूप ही तो संसार है।'[10]

क्या प्रार्थना नहीं करें? क्या कुछ भी नहीं मांगे?

कहीं भ्रम न हो जाये, अत: इसी क्रम में आचार्य यह भी बताते हैं कि किस प्रकार की प्रार्थना करनी चाहिए–

'हमारे शारीरिक, आगन्तुक और स्वाभाविक दु:खों का नाश हो तथा उनके कारणभूत कर्मों का क्षय हो। रत्नत्रय पालन करते हुए मरण हो और जिनदीक्षा की ओर अभिमुख करने वाले ज्ञान का लाभ हो, इतनी ही प्रार्थना करने योग्य है। इसके सिवाय अन्य प्रार्थना करना योग्य नहीं है।'[11]

जिनेन्द्र वर्णी के अनुसार उक्त प्रार्थना भी प्रशस्त निदान का ही एक रूप है। उनके शब्दों में– ये मोक्ष के कारणभूत प्रशस्त निदान हैं।[12] इसी तरह की भावना निम्नांकित शब्दों द्वारा व्यक्त करने की परम्परा है–

''दुक्ख-खओ कम्म-खओ, समाहिमरणं च बोहि-लाहो य।
मम होउ जगद्- बांधव तव जिणवर चरण सरणेण॥''

हे जिनवर! आपके चरणों की शरण से मेरे दु:खों का क्षय हो, कर्मों का क्षय हो, समाधिमरण हो, ज्ञान की प्राप्ति हो और जगत मेरा बाधंव हो, किसी के प्रति क्रोध या घृणा न हो।

निदान के अनुसार फल मिलता है?

प्रथमानुयोग में ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जहाँ इस बात की पुष्टि होती है कि कई जीवों को निदान के अनुसार फल मिला है। सबसे बड़ा उदाहरण तो यह है कि त्रेसठ शलाका पुरुषों (24 तीर्थंकर + 9 बलभद्र + 9 नारायण + 9 प्रतिनारायण + 12 चक्रवर्ति) में से नारायण बनने वाले प्राणी नारायण के पद हेतु निदान किए होते हैं यानि नारायण का पद नारायण बनने के निदान-बंध का फल होता है।[13]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्वाले की णमोकार मंत्र की कथा से भी ज्ञात होता है कि ग्वाला णमोकार मंत्र की श्रद्धा के पुण्य से अगले जन्म में उसके ही सेठ के यहां पुत्र बनने का निदान करता है और यह निदान फलीभूत होता है।

ऋणात्मक या प्रतिशोध संबन्धित निदान के उदाहरण भी मिलते हैं—

''वशिष्ठ तापस ने उग्रसेन को मारने का निदान किया था। इस निदान के फल से वह मरकर उग्रसेन का पुत्र कंस हुआ और उसने पिता को जेल में डालकर राज्यपद प्राप्त किया। बाद में कृष्ण के द्वारा स्वयं भी मारा गया।''[14]

उक्त वर्णन से यह अर्थ नहीं लेना है कि प्रत्येक प्राणी का प्रत्येक निदान फलीभूत होता है। सब कुछ प्राणी के भावों के अनुसार कर्म व्यवस्था पर निर्भर करता है। जैसे उदयपुर से दिल्ली जाते हुए कोई मालिक कहे कि इन्दौर लेते हुए चलो तो पर्याप्त पैट्रोल की व्यवस्था हो व अन्य बाधाएं न हो तो ड्राईवर इन्दौर लेते हुए जा सकता है, किन्तु इस प्रक्रिया में उदयपुर से दिल्ली जाने में समय ज्यादा लगेगा। इसी तरह प्राणी की संसार से सिद्धालय की यात्रा निदान-बंध के कारण जटिल हो जाती है। यदि अज्ञानी व्यक्ति को यह मालूम ही न हो कि उसकी मंजिल दिल्ली है तो इन्दौर आकर वह कह सकता है कि अब बम्बई चलो, अब कलकत्ता चलो...।

अज्ञानी प्राणी भी जाने-अनजाने में कभी डिग्री चाहता है, कभी नौकरी चाहता है, कभी शादी चाहता है, कभी बच्चे चाहता है, कभी यश चाहता है, कभी करूणावश अन्य की सेवा की शक्ति चाहता है। कभी बच्चों की शादी चाहता है, कभी बाधा पहुंचाने वालों को हानि पहुंचाने की भावना करता है, कभी बीमारी के दु:खों से घबराकर या अपमान एवं अवहेलना में त्रस्त होकर मनुष्य जीवन से छुटकारा चाहता है। इसके विपरीत ज्ञानी को अपनी मंजिल मालूम रहती है किन्तु यदि पूर्व संस्कारों के जोर से सीधी मंजिल पर न जाते हुए अन्य प्राणियों की सेवा, सत्य के मार्ग के प्रचार-प्रसार आदि की मनोकामनाएं हो जाए तो उसकी सिद्धालय की यात्रा इन मनोकामनाओं से प्रभावित हो जाती है। इसलिए आचार्य देव हमें सावधान करते हुए कहते हैं कि किसी भी प्रकार का निदान एक शल्य है जिससे आत्मा का सहज सुख अनुभव करने में बाधा आती है।

''नाम लेत सब दु:ख मिट जाय'', ''पापं क्षणात्क्षयमुपैति शरीरभाजाम्'' ''सद्य: स्वयं विगत बन्धभया भवन्ति'', ''तुम पद पंकज पूजते, विध्न रोग टर जाय'', ''अपराजित मन्त्रोऽयं सर्व-विघ्न विनाशनं:''.... आदि कई कथन जैन ग्रन्थों में इस तथ्य का समर्थन करते हैं कि सच्चे भक्त को बिना मांगे ही भौतिक सुखों की प्राप्ति होती है। फिर निदान की क्या आवश्यकता?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य

निदान के अनुसार फल होने की संभावना होती है या नहीं, इस प्रश्न का उत्तर जानने के लिए पहले यह जानना जरूरी है कि मन की गहराई में एक व्यक्ति की यदि कोई अभिलाषा या मनोकामना हो तो वह पूर्ण होती है या नहीं?

कोई कहेगा कि मैंने पूजा के प्रभाव से बेटा चाहा था और मुझे मिल गया, अतः मेरी मनोकामना पूर्ण हो गई, तो कोई दूसरा यह कह सकता है कि मैंने भी पूजा के प्रभाव से बेटा चाहा था किन्तु बेटा मुझे नहीं मिला यानि मेरी मनोकामना पूर्ण नहीं हुई। इस तरह के दो कथनों के आधार पर कोई नतीजा नहीं निकलता है। वैज्ञानिक अध्ययन यदि हम चाहें तो हमें कई व्यक्ति चुनने होंगे व सम्बंधित व्यक्तियों के नतीजों की तुलना औसत नतीजों से करनी होगी।

अमरीका में इंस्टिट्यूट ऑफ नोएटिक साइन्सेस (The Institute of Noetic Sciences)[15] इस तरह के वैज्ञानिक प्रयोग करते रहते हैं जिसमें मन का प्रभाव भौतिक परिणामों पर देखा जाता है। बार-बार मन में एक विशेष परिणाम हेतु एक व्यक्ति को कामना करने के लिए कहा जाता है व ऐसी कामना के पूर्व मन को इधर-उधर के संकल्पों-विकल्पों से मुक्त करने के लिए ध्यान (Meditation) कराके मन को अल्फा अवस्था (Alpha State) में लाया जाता है। मन सामान्यतया बीटा-अवस्था (Beta State) में रहता है व विशेष ध्यान द्वारा अल्फा अवस्था में लाया जा सकता है। मस्तिष्क तरंगों की यंत्रों द्वारा माप करके यह ज्ञात किया जा सकता है कि मन अल्फा अवस्था में है या बीटा अवस्था में? ध्यान करने वाले व्यक्ति स्वयं अनुभव कर सकते हैं कि ध्यान करते हुए मन कब चंचल था और कब स्थिर जैसा हो गया। चंचल अवस्था बीटा अवस्था है और अचंचल या अत्यल्प चंचल अवस्था अल्फा अवस्था है।

प्रयोगों से यह देखा गया है कि अल्फा अवस्था में आने के पूर्व या अल्फा अवस्था से बाहर आते समय व्यक्ति की जो मनोकामना होती है उसके फलवती होने की संभावना बहुत अधिक होती है। कई दिनों तक एक व्यक्ति एक मनोकामना को लेकर अल्फा अवस्था में जाता है तो उसके पूर्ण होने की संभावना कई गुना हो जाती है। (इस संस्था के रिसर्च परिणामों की जानकारी हेतु इसकी वेबसाइट देखी जा सकती है।)

अन्य संस्थाएं भी अल्फा अवस्था का लाभ देख रही है। यदि वेबसाइट www.silvacourse. com को देखें तो यह पंक्ति पाएंगे-

"The Silva Method is the world's premiere mind development

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

program. You can learn to use the untapped power of your mind to accomplish whatever you desire"[16] (इस पंक्ति में यह व्यक्त किया गया है कि आप अपनी मनोकामना पूर्ण करने की सामर्थ्य आपके स्वयं की मन की शक्ति से पाने की विधि सीख सकते हैं। इस विधि को सिल्वा-विधि कहा जाता है।)

सिल्वा (Silva) द्वारा प्रचारित एवं प्रसारित विधि की सफलता इस बात से आंकी जा सकती है कि अब तक सैकड़ों बड़ी-बड़ी कम्पनियों के हजारों एक्जीक्यूटिव इस विधि को सीख चुके हैं। कई हजार रूपयों की फीस एक व्यक्ति को इस विधि को सीखने हेतु देनी होती है। कई पुस्तकों[17] में बड़ी-बड़ी कम्पनियों के एक्जीक्युटिव द्वारा प्राप्त सफलता की कहानियां पढ़ने को मिल सकती हैं। इनमें से कई कहानियाँ चमत्कार से कम नहीं लगती है।

दीपक चौपड़ा, जिनकी प्रसिद्ध पुस्तक "The seven spiritual laws of success" के पहले अध्याय में यह बताते हैं कि आप अपने-आपको मकान, धन, शरीर आदि न मानते हुए केवल शुद्ध चेतना (Pure consciousness) मानो और ऐसा अनुभव करो। जिस समय ऐसे स्वयं को अनुभव करते हो उस अवस्था को वे "Self referral" अवस्था कहते हैं। दीपक चौपड़ा कहते हैं कि "Self referral" शान्त अवस्था में आने के उपरान्त जब वापस बाहर निकलते हो तब आपके मन की गहराई में जो भी इच्छा होती है, उसकी पूर्ति होती है। उनकी निम्नांकित पंक्ति भी इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण है :-

"Anything you want can be acquired through detachment, because detachment is based on the unquestionning belief in the power of you ture self."[18]

उदयपुर में वर्षायोग 2006 में विराजमान मुनि श्री 108 सुधासागरजी का 15 सितम्बर, 2006 का प्रवचन मुझे याद आता है जिसमें मुनिश्री मन्दिर के एक भक्त की नि:सही अवस्था की व्याख्या करते हुए बताते हैं कि मन्दिर में एक सच्चा भक्त संसार के सभी पदार्थों एवं घटनाओं से संग छोड़ देता है और यह अवस्था ऐसी है जहां चमत्कार होते हैं जैसे कि धनंजय कवि के पुत्र का विषापहार। गहराई से देखा जाये तो वीतरागी देव की आराधना से नि:सही या नि:संगी होने के भाव ज्यादा सरलता से पैदा हो सकते हैं।

पश्चिम जगत के आधुनिक प्रयोगों से भी यह ज्ञात होता है कि मनोकामनाएं नि:संगी अवस्था में या अल्फा अवस्था में आने से पूर्ण होने की संभावना ज्यादा होती है। इन तथ्यों को मिला कर देखें तो हम यह पायेंगे कि वीतरागी देव चाहे वे कुछ भी उनके पास से हमें न दें किन्तु आटोमैटिक व्यवस्था से सहज ही में सच्चे भक्त के मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि कोई व्यक्ति किसी भी अन्य व्यक्ति से घृणा, ईर्ष्या, क्रोध न करे तो उस व्यक्ति के मन में जो कार्य संपन्न कराने की इच्छा होती है वह पूर्ण होती है, ऐसा अमरीका के उच्च कोटि के आधुनिक मनोवैज्ञानिक डॉ. वेन डायर मानते हैं। उनके शब्दों में :-

"Get a clear picture in you mind of something that you would like to see happen in your life. A job apportunity, meeting your perfect partner, quitting an addictive behaviour. Keep your inner focus on this picture and extend love outwardly as frequently as possible, with this picture in mind."

इसी बात को पूर्ण करते हुए अगले पैराग्राफ में वे लिखते हैं[19] :-

"As you get proficient at keeping your inner energy on what it is that you would like to manifest, and you remain loving, you will attract the coincidences that fit your desire perfectly. This is called managing your coincidences, and it is something that I practice daily. It works."

डॉ. वेन डायर की इस विषय पर प्रकाशित दो पुस्तकें :- "Manifest your desting"[20], & "Power of intention : Leaning to cocreate your world your way"[21] भी पठनीय हैं। इन पुस्तकों का सारांश यह है कि एक सामान्य व्यक्ति भी अपने मन का इतना विकास कर सकता है।

उपसंहार

जैन शास्त्रों, आधुनिक विचारकों एवं ध्यान की अल्फा अवस्था से संबंधित कई प्रयोगों से यह ज्ञात होता है कि व्यक्ति की मनोकामनाएं पूर्ण हो सकती हैं। जैनाचार्य भव्य जीवों को सावधान करते हैं कि विषय भोगों की आकांक्षा करना निदान है और निदान आर्त्तध्यान होता है और यह संसार को बढ़ाने वाला होने से अनुचित है।

परमेष्ठी के दरबार में आकर यह समझने की जरूरत है कि धर्म के प्रभाव से बाहरी वैभव तो बिना मांगे ही मिलता है। आचार्य समन्तभद्र के शब्दों में :-

अमरासुर नरपतिभिर्यमधर पतिभिश्च नूतपादाम्भोजा:।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्था, वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरणा:।।[22]

सम्यग्दर्शन के प्रभाव से जीव देवेन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती, तथा गणधरों से पूजनीय तीन लोक के शरणभूत तथा धर्मचक्र के धारक तीर्थंकर भी होते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द भी समझाते हैं कि अन्य में परिवर्तन या नियंत्रण करने की या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अन्य का स्वामी बनने की इच्छा ही आश्रव का कारण है, अत: अपनी आत्मा में स्थित होने का प्रयास करो ताकि आश्रवों का क्षय होकर शाश्वत सुख प्राप्त हो। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में[23]-

अहमेक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।
तम्हि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि।।

सन्दर्भ :-

1. भगवती आराधना, पृ. 56, 613, 57
2. आचार्य उमास्वामी, 'तत्त्वार्थसूत्र', 7.18, 7.37
3. आचार्य अकलंक देव, 'तत्त्वार्थ वार्तिक: राजवार्तिक' पृ. 545, 733, 741
4. भगवती आराधना, गाथा 1209, पृ. 613
5. वही, गाथा 1210, पृ. 614
6. वही, गाथा 1211, पृ. 614
7. वही, गाथा 1213, पृ. 615
8. वही, गाथा 1216, पृ. 616
9. वही, गाथा 1217, पृ. 616
10. वही, गाथा 1218, पृ. 616
11. वही, गाथा 1219, पृ. 617
12. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष, पृ. 2-608
13. आचार्य यतिवृषभ, "तिल्लोय पण्णत्ति," अधिकार 4, गाथा क्र. 1436
14. भगवती आराधना,, पृ. 615
15. www. noetic. org/about. cfm वेबसाइट से इसके बारे में विस्तृत जानकारी मिल सकती है।
16. देखिए www.silvacourse. com
17. (a) Jose Silva, 'The silva Mind Control Method' (Pocket Books, New York)
    (b) Jose Silva and Philip Miele, 'The Silva Method'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(c) Jose Silva and Ed Bernd, Jr. 'Sales Power : The Silva Mind Control Method for Sales Professionals'

(d) Ed Bernd, Jr., 'Jose Silva's Ultramind Esp System : Think Your way to Success' (Careeer Press, Frandlin Lakes, NJ)

(e) Holly Silva, ' Silva Mind Control Method of Mental Dynamics'

(f) Jose Silva, 'The Silva Mind Control Method for Getting Help from Your Other Side'

(g) Holly Silva, 'The Silva Mind Control Method for Business Managers'

18. Deepak Chopra, 'The Seven spiritual laws of success', (Amber-Allen Publishing, 1994, Page 84.)

19. Wayne W. Dyer, 'your sacred self : making the decision to be free' (Harper Paper backs, 1995)

20. Wayne W. Dyer, 'Manifest Your Destiny', (Harper Paperbacks)

21. Wayne W. Dyer, 'The Power of Intention' (Hay House, 2004)

22. आचार्य समन्तभद्र, 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार', श्लोक 1.39

23. आचार्य कुन्दकुन्द, 'समयसार', गाथा क्र. 73

प्रोफेसर भौतिक विज्ञान (Emeritus)
11, भैरवधाम कॉलोनी
सेक्टर 3, उदयपुर (राज.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकरों की मूर्तियों पर उकेरित चिह्न

डॉ. उमाकान्त पी. शाह
अनुवादक, प्रोफेसर लक्ष्मीचन्द जैन

विभिन्न तीर्थंकरों की मूर्तियाँ उनकी पादपीठ के नीचे उकेरित किये गये लांछन या चिह्न की सहायता से पहिचानी जाती हैं। दिगम्बर एवं श्वेताम्बर, दोनों सम्प्रदायों द्वारा ऐसे लाक्षणिक प्रतीकों की सूची दी गयी है। तिसपर भी, किसी भी पूर्व के ग्रन्थों में ये नहीं पाये गये हैं। इन लांछनों की सूची न तो किन्हीं आगमों (Canonical texts) में, कल्पसूत्र में मिलती है जिसमें चौबीस जिनों का जीवन वृत्तान्त दिया है, न निर्युक्तियों में और न ही चूर्णियों में दी गई है। केवल आवश्यक निर्युक्ति के एक स्थान पर इस तथ्य का निर्देश दिया गया है कि ऋषभ नाम इसलिये रखा गया, क्योंकि उनके उरुओं (thighs) में ऋषभ (bull) का चिह्न (sign) था।[1] परन्तु उसमें अन्य जिनों के कोई भी लांछन नहीं दिये गये हैं और यह निर्युक्ति, जो आज उपलब्ध है, दूसरी या तीसरी सदी (Century A.D.) के पूर्व की मान्य नहीं है। लगभग पांचवी सदी का ग्रन्थ 'वासुदेवहिण्डी', जिसमें अनेक तीर्थंकरों (उदाहरणार्थ, ऋषभनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ, एवं अन्य) का जीवन चरित्र दिया गया है, में भी उनके लांछनों का कोई उल्लेख नहीं है। दिगम्बरों में भी पूर्व के ग्रन्थों, जैसे जातसिंह नन्दि के वरांगचरित्र (लगभग छठी सदी) में या जिनसेन (लगभग 750-840 ईस्वी पश्चात्) उनके शिष्य गुणभद्र (लगभग 830 A.D.) के क्रमश आदिपुराण और उत्तरपुराण में अथवा जिनसेन (783 ईस्वी पश्चात्- A.D.) के हरिवंश में अथवा रविषेण (676 A.D.) के पद्मचरित्र में ये सूचियाँ नहीं दी गई हैं। तिलोयपण्णत्ति (चतुर्थ या पांचवी सदी) में एक सूची दी गई है, किन्तु वह आज प्राप्य ग्रन्थ में बाद में हुए अंतर्क्षेप (interpolation) रूप दिखाई देता है, जैसा कि इस तथ्य से स्पष्ट (evident) है कि एक स्थान पर उसमें बालचन्द्र सैद्धान्तिक का संदर्भ आया है। इसलिये तिलोयपण्णत्ति का साक्ष्य सावधानी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से व्यवहृत किया जाना है। इस वर्तमान ग्रन्थ की तिथि, इस ग्रन्थ के सम्पादक स्वर्गीय प्रोफेसर आदिनाथ उपाध्ये द्वारा इसकी तिथि लगभग छठी सदी (A.D.) निकाली गयी।

इन परिस्थितियों में दोनों सम्प्रदायों के द्वारा प्रदत्त लांछनों की सूची की तुलना करना आवश्यक है। परिशिष्ट में दी गयी सूची से ज्ञात होगा कि हेमचन्द्र के अनुसार चौदहवें जिन अनन्तनाथ का लांछन श्येन या बाजपक्षी (Falcon) जो अन्तर के बिन्दुओं को दर्शाता है। यह दिगम्बरों के अनुसार सेही (bear) है। दशवें जिन शीतलनाथ का श्रीवत्स लांछन हेमचन्द्र के अनुसार है किन्तु दिगम्बरों के अनुसार स्वस्तिक (तिलोयपण्णत्ति) या श्रीद्रुम (प्रतिष्ठा सारोद्धार) है। पुनः अरनाथ, अठारहवें जिन का लांछन दिगम्बर परम्परा में मत्स्य है[2] किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार नन्द्यावर्त है।

चूंकि दोनों जिन सम्प्रदायों में से किसी में भी लांछनों के लिये सर्वपूर्व उपलब्ध साहित्यक उद्‌गम उनके मूल से पश्चात् का है और चूंकि उनकी सूचियों में कुछ अन्तर (भिन्नताएं) हैं, हमें लांछनों के मूल स्रोत के काल के बारे में शुद्ध हल तक पहुँचने हेतु पुरातात्त्विक साक्ष्य को भी खोजना चाहिए।

जहाँ तक साहित्यक साक्ष्य के विश्लेषण का सम्बन्ध है, यह काल कम से कम मूर्ति पूजा के सम्बन्ध में दोनों सम्प्रदायों के अंतिम रूप से जुदा होने काल से सम-सामयिक होना चाहिए और यह काल (युग) जैसा कि मैंने अन्यत्र पूर्व में दिखलाया है, पांचवी सदी के अंतिम चतुर्थांश के आस-पास होना चाहिये। यह काल द्वितीय वलभि परिषद् के निकट कहीं होना चाहिये, अन्यथा सामान्य सहमति संतुष्टिपूर्वक समझायी नहीं जा सकती है। यह काल सम्भवतः दो भिन्न सूचियों के अंतिम निर्णय का होना चाहिये और न कि आवश्यक रूप से लांछनों की अवधारणाओं के उद्‌गम का। यह निम्नलिखित परिचर्चा से अधिक स्पष्ट हो जाएगा।

अभी तक ज्ञात, सर्वपूर्व मूर्तिशिल्प राजगिर से प्राप्त नेमिनाथ का मूर्ति-शिल्प है जिसकी पादपीठ पर लांछन है, जिसे सर्व प्रथम रामप्रसाद चंदा द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका सिर अलग कर दिया गया है तथा बुरी तरह विरूपित कर दिया गया है, किन्तु मूर्ति-शिल्प का शेष भाग भलीभांति सुरक्षित है। पादपीठ के केन्द्र में एक युवा व्यक्ति किसी आयताकार चक्र के समक्ष खड़ा है, दोनों गुप्त काल की अचूक शैली में सुन्दरतापूर्वक उकारे गये हैं। प्रत्येक बाजू में एक शंख है जो दोनों सम्प्रदायों के अनुसार नेमिनाथ का लांछन है। जैसा कि चन्दा ने पढ़ा है, पादपीठ की किनार पर एक शिलालेख की आंशिक रूप से सुरक्षित लकीर, उस चंद्रगुप्त को निर्दिष्ट करती है जिसे शिलालेख की लिपि के साक्ष्य से चंद्रगुप्त द्वितीय के रूप में पहिचाना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुषाण काल के मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त मूर्तिशिल्प पर तीर्थंकरों के लांछन नहीं पाये जाते हैं। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कि गुप्तकाल के राजगिर से प्राप्त मूर्तिशिल्प पर वे दिखाई दिये हैं, परन्तु उनकी स्थिति अंतिम रूप से निर्णीत नहीं हुई थी।

वैभर पहाड़ी से गुप्तोत्तर काल का मूर्तिशिल्प आदिनाथ को प्ररूपित करती हुई लगभग सातवीं आठवीं सदी (ए.डी.) प्राप्त हुई है जिसकी पादपीठ पर प्रत्येक बाजू में ऋषभ के द्वारा घेरे हुए धर्म-चक्र है। ऋषभ, आदिनाथ का लांछन है जिन्हें अपने कंधों पर छाये हुए केश कुंडल के द्वारा भी पहिचाना गया है। (देखिये, "Jaina Art and Architecture, A. Ghosh " द्वारा सम्पादित भाग 1 प्लेट 90) तत्पश्चात् धर्म चक्र को बाजू से घेरे हुए दो हिरण हैं जबकि लांछन धर्मचक्र के या तो ऊपर या नीचे, पादपीठ पर है।

छन कुठर के निकट सीता पहाड़ी से, मध्य भारत में दो मूर्तिशिल्प हैं, जिनमें से एक कायोत्सर्ग मुद्रा में ऋषभनाथ हैं और अन्य पद्मासन मुद्रा में महावीर है।

Jaina Art and Arehitecture, भाग-1,[3] जहाँ पादपीठ के दोनों सिरों पर लांछन प्रत्येक पर है जबकि धर्मचक्र सामान्यतया केन्द्र में है।

दोनों मूर्तिशिल्प कुषाणकाल से गुप्तकाल शैली में हुई संक्रमण की प्रकम श्रेणी को प्ररूपित करते हैं।

राजगिर मूर्ति शिल्पों में से एक अत्यंत जिज्ञासापूर्ण नमूना खोजा गया है। जहाँ पद्मासन पर स्थित तीर्थंकर के सिर के ऊपर सात सर्प फण है- और इसलिये वह या तो पार्श्वनाथ अथवा सुपार्श्वनाथ होने चाहिए, क्योंकि अन्य कोई भी तीर्थंकर के सिर पर सर्प-फण नहीं होते हैं। धर्म-चक्र के प्रत्येक ओर एक शंख है जो दोनों सम्प्रदायों के अनुसार नेमिनाथ का लांछन है। इसलिये स्पष्ट है कि या तो यह मूर्ति शिल्पी की भूल हुई थी या लांछन तब तक अंतिम रूप से निर्णीत नहीं हुए थे। यह मूर्तिशिल्प पालकालीन कला का अपरिष्कृत नमूना है।

यद्यपि चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियों में से एक मूर्ति का भी वर्णन जैन आगमिक अंग ग्रन्थों में नहीं मिलता है, तथापि सिद्धायतन भी कहे जाने वाले शाश्वत चैत्यों में शाश्वत-जिनप्रतिमाओं के थोक वर्णन से जिन-प्रतिमा की पूर्व अवधारणा प्राप्त कर सकते हैं। दोनों सम्प्रदायों की जैन परम्पराएं सिद्धायतनों का निर्देश करती हैं। इन शाश्वत-जिनों की मूर्तियां हैं। ये मूर्तियां चार जिनों की है, नामत: चन्द्रानन, वारिषेण, ऋषभ और वर्द्धमान।[4] उन्हें शाश्वत जिन इसलिये कहते हैं, क्योंकि प्रत्येक उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी काल में इनके नाम सदैव पुनरावृत्त किये जाते हैं और वे पन्द्रह कर्म भूमियों में से किसी में भी विकसित होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सिद्धायतनों और शाश्वत जिनों का वृहद् विवरण जीवाभिगम सूत्र नामक उपांग ग्रंथ में उपलब्ध है।[5] ये सिद्धायतन विभिन्न स्वर्गों तथा शिखरों पर पाये जाते हैं।

विभिन्न तीर्थंकरों के लांछनों का कोई भी निर्देश पुन: इन वर्णनों में नहीं पाया जाता है। लगभग छठी सदी में एक लेखन में वराहमिहिर कहते हैं कि अर्हतों के अनुयायियों के प्रभु घुटने तक पहुँचने वाली भुजाओं तथा वक्ष पर श्रीवत्स के चिह्न द्वारा प्ररूपित किये जाते हैं। दिखने में युवा एवं सुन्दर प्रभु का मुख शांतिपूर्ण जबकि उनका वस्त्र मात्र निवास होता है। (अर्थात् उनके शरीर पर कोई वस्त्र नहीं होता है।) इस प्रकार वराहमिहिर ने जिन-बिम्बों के लांछनों का कोई निर्देश नहीं दिया है।

मथुरा में हुई लगभग 300-315 ए. डी. (ईस्वी सन्)की परिषद में आर्य स्कन्दिल के वचन के युग में भी समवायांग सूत्र, कल्पसूत्र एवं स्थानांग सूत्र में लांछनों की सूची प्रस्तुत करने के लिये पर्याप्त अवकाश था। परन्तु ऐसे आगम ग्रंथों में भी लांछनों को नहीं पाते हैं। यहाँ तक कि लगभग ईस्वी सन् 453 के वल भी वाचना में भी हम ऐसे ग्रन्थों में उन्हें नहीं पाते हैं।

निष्कर्ष स्पष्ट है कि जिन बिम्बों की पादपीठों पर लांछन चौथी या पांचवी ईस्वी सदी से दिये जाने लगे होंगे, किन्तु पादपीठ पर उनकी स्थिति निश्चित नहीं थी, न ही कला में लांछन सार्वभौमिक रूप से लोकप्रिय थे।

लखनऊ के प्रादेशिक संग्रहालय में एक छोटा वर्गाकार स्तम्भ, क्रमांक J.268 है जिसमें केवल दो ओर निम्न उभारदार उकेरण हैं जो कि मात्र मथुरा के कंकाली टीले से लाई गईं हैं।

एक पर उभारे आकार में सिंहारूढ़ स्तम्भ की परिक्रमा करते हुए एक पुरुष और एक स्त्री दर्शाए गये हैं। उकेरण की शैली ऐसे युग की (लगभग द्वितीय या प्रथम सदी ईस्वी पूर्व) है। इस उभारदार आकार में स्तम्भ की परिक्रमा दर्शाती है कि यह सिंहस्तम्भ एक पवित्र वस्तु माना जाता था। यह हमें उस गरुड़ ध्वज का स्मरण कराता है जिसे विदिशा में विष्णु मन्दिर के समक्ष हेलिओडोरस द्वारा स्थापित कराया गया था। हमें तल-ध्वज राजधानी के बारे में ज्ञात है (जो बलराम के तीर्थ-मन्दिर के समक्ष स्थापित किया गया होना चाहिए) तथा बट्-वृक्ष-स्तम्भ जो सम्भवत: कुबेर के मंदिर के समक्ष स्तम्भ से है, एक मकरध्वज स्तम्भ जो सम्भवत: कामदेव या प्रद्युम्न के तीर्थ-मंदिर के समक्ष स्तम्भ से लाया गया।

यह सिंह-ध्वज जो मथुरा के जैनियों द्वारा पूज्य माना जाता है वह एक बड़े सिंहध्वज के उभारदार आकार में से प्रतिनिधित्व करने वाला लघु चित्र है। यह संभवत: महावीर को समर्पित किसी मंदिर के समक्ष निर्मित किया गया था, क्योंकि सिंह महावीर के लांछन रूप में ज्ञात था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह जानकर रुचिकर होगा कि आचार्य हेमचन्द्र अपने अभिधान-चिन्तामणि-कोश में चौबीस जिनों के लांछनों के बारे में सुनते हुए उन्हें अर्हतम् ध्वज[6] से अभिधारित करते हैं। यही दृष्टिकोण दिगम्बर लेखक पण्डित आशाधर का भी है जो कहते हैं कि प्रत्येक जिन की क्षत्रिय कुटुम्ब के या वंश के उसका लांछन हो गया है।[7] व्ही. एस. अग्रवाल द्वारा प्रकाशित अहिच्छत्र मृण्मूर्ति फलक से हमें ज्ञात होता है कि दो महाभारत के युद्ध करते हुए योद्धाओं की निजी ध्वजाओं पर दो भिन्न प्रतीक (सुअर तथा चंद्र कला) थे। जैन परम्पराओं के अनुसार सभी तीर्थंकरों का जन्म क्षत्रिय वंशों में हुआ था। अत:, उनकी ध्वजाओं पर प्रतीकों से उनके संज्ञान चिह्न माने जाते थे जो लगभग चौथी या पांचवीं ईस्वी सदी के पश्चात् तीर्थंकरों की मूर्तियों पर दृष्टिगत होने लगे ताकि उनकी पहिचान सुविधाजनक हो सके। यह आवश्यक हो गया, क्योंकि विभिन्न तीर्थंकरों के सभी मूर्तिशिल्प एक निश्चित रूप किये रहते हैं, चाहे वे कायोत्सर्ग मुद्रा में हो या पद्मासन पर तथा मूर्तिशिल्प में नहीं हों। कुषाण काल में तीर्थंकरों के बिम्बों पर लांछन उकेरे नहीं जाते थे और वे तभी पहिचाने जा सकते थे जब उनके नाम उनकी पादपीठ पर शिलालेखों में उल्लिखित किये जाते थे। इसलिये यह निष्कर्ष निकाला गया कि कुषाण काल के पश्चात् लांछनों की प्रस्तुति हुई। किन्तु अब कुषाण कालावधि में मथुरा के जैनियों में सिंह-ध्वज पूज्य वस्तु रही है, अत: यह कल्पना करना तर्क योग्य होगा कि कुषाण अवधि में और कम से कम लगभग प्रथम या द्वितीय सदी में विभिन्न तीर्थंकरों के तीर्थ मंदिरों के हेतु विभिन्न ध्वज-स्तम्भों पर ध्वज प्रतीकों का अस्तित्व था।

सिद्धानादिक द्वारा समर्पित आयात पट्ट (क्रमांक जे. 249, प्रदेश संग्रहालय, लखनऊ)[8], जो कंकाली टीला मथुरा से खोजा गया था, उसमें केन्द्र में जिन बैठे हुए हैं और पट के सिरों पर दो स्तम्भ हैं, एक के ऊपर धर्म चक्र है और दूसरे के ऊपर एक हाथी है। जैन परम्परा में हाथी को दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ का लांछन माना जाता है। यहाँ वह जिन के ध्वज-प्रतीक के रूप में प्रदर्शित है। भद्रनन्दि द्वारा प्रतिष्ठित आयागपट (क्रमांक जे. 252, स्टेट म्युजियम, लखनऊ) पर हमें उसी प्रकार एक स्तम्भ प्राप्त हुआ है जिस पर धर्म चक्र है और दूसरे स्तम्भ पर एक सिंह आरूढ़ है। इस आयाग पट के केन्द्र में जिन आकृति है, इसलिये अवश्य ही महावीर के रूप में पहिचाना जाना चाहिये।[9]

अत: हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कम से कम प्रथम या द्वितीय ईस्वीपूर्व सदी में जैनियों में प्रथानुसार तथा व्यवहार से भी तीर्थंकरों के मंदिरों के समक्ष ध्वज-स्तम्भ निर्मित किये जाते थे और बाद में ये ही ध्वज-प्रतीकों तीर्थंकरों के क्रमश: बिम्बों पर लांछनों के रूप में प्ररूपित किये जाने लगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकरों के लांछनों की सूची[10]—

1. ऋषभनाथ ..... ऋषभ
2. अजिनाथ ..... हाथी
3. सम्भवनाथ ..... अश्व
4. अभिनन्दन..... बन्दर
5. सुमति..... क्रौञ्च (श्वे.) कोक (दिग.)
6. पद्मप्रभ ..... कमल
7. सुपार्श्व ..... स्वस्तिक (श्वे.) नन्द्यावर्त (दिग. ति. प.)[11]
8. चन्द्रप्रभ ..... चन्द्र कला
9. पुष्पदन्त ..... मगर (सुविधि नाथ)
10. शीतलनाथ..... श्रीवस (श्वे.) स्वस्तिक (दिग.)[12]
11. श्रेयांस ..... खड्गी (श्वे.), गेंडा (दिग.)
12. वासुपूज्य ..... भैंसा
13. विमलनाथ..... शूकर, वाराह
14. अनन्तनाथ..... श्येन या बाज (श्वे.) सेही या ऋक्ष (दिग.)[13]
15. धर्मनाथ ..... वज्र
16. शान्तिनाथ..... हिरण
17. कुन्थुनाथ ..... मेढ़ा
18. अरनाथ ..... नन्द्यावर्त (श्वे.) मत्स्य (अन्य दिग.), तगर कुसुम (ति. प.)[14]
19. मल्लिनाथ..... कुम्भ
20. मुनिसुव्रत नाथ ..... कछुवा
21. नमिनाथ ..... नील कमल
22. नेमिनाथ ..... शंख
23. पार्श्वनाथ ..... सर्प
24. महावीर..... सिंह (अहिंसा वायस- 3 जुलाई 1989)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ सूची -

1. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा 1080, आवश्यक निर्युक्ति पर हरिभद्र की वृत्ति, पृ. 502
2. तिलोय पण्णत्ति (टी. पी., 4. 605) का तगर कुसुम, प्रतिष्ठासारोद्धार का तगर। तिलोय पण्णत्ति के सम्पादकों ने तगरकुसुम मत्स्य को लिया है जो दिगम्बर कन्नड़ इत्यादि पर आधारित टी. एन. रामचन्द्रन के ग्रन्थ तिरुप्परुत्ति कुनरम् और उसके मंदिर में पृष्ठों 192-194 पर दी गई सारणी पर आधारित है।
3. A.S.I., A.R., 1925-26 पृ. 125-26, प्लेट, IV, b. Shah, UP, Studies in Jaina Art (Banaras, 1955) प्लेट VII.
4. स्थानांग सूत्र, 4, सू. 307, जीवाभिगम सूत्र, सू. 137 पृष्ठ 225 एवं अनुगामी।
5. जीवाभिगम सूत्र, 139, पृ. 232-33, दिगम्बर परम्परा के अनुसार विभिन्न स्थलों पर सिद्धायतनों के लिये, देखिये- हरिवंश, 5-6 पृ., 70-140.
6. देखिये -वृषो गजोऽश्व: प्लवग: क्रौञ्चोऽब्जं स्वस्तिक: शशी।
   मकर: श्रीवत्स: खड्गी महषि: शूकरस्तथा॥
   श्येनो वज्रं मृगश्छागो नन्द्यावर्ते घटोऽपि च।
   कूर्मो नीलोत्पलं शङ्ख: फणी सिंहोऽर्हतां ध्वजा: ॥
   अभिधान चिंतामणि, 1. 47-48
7. देखिये- वंशे जगत्पूज्यतमे प्रतीतं पृथग्विर्यं तीर्थकृपां यदत्र।
   तल्लांछनं संव्यवहार सिद्धयै बिम्बे जिनस्येह निवेशयामि।
   प्रतिष्ठासारोद्धार, पृ. 214, पृ. 115
8. Studies in Art, pl, IV, Fig. 13
9. वही, pl, III, आकृति 10
10. अभिधान- चिन्तामणि, 1. 47 एफ. पी. 17 श्वे. सूची के लिये, तिलोयपण्णत्ति (टी. पी.) 4. 604-05, पृ. 209 दिग. सूची के लिये
11. प्रतिष्ठासारोद्धार के अनुसार स्वस्तिक, पृ. 9 गाथा 78.
12. प्रतिष्ठासारोद्धार के अनुसार श्रीद्रुम, पृ. 9 गा. 78
13. प्रतिष्ठासारोद्धार के अनुसार सेढिका
14. तगरम्, वही, पृ. 9, गाथा 79

दीक्षा ज्वैलर्स के ऊपर
554 सराफा, जबलपुर, 482002

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारण का स्वरूप : जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में

— सुश्री श्वेता जैन

'यह जगत् परमार्थ दृष्टि से सत्य हो या मिथ्या' इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि जगत के इस स्वरूप का सबको अनुभव होता है। अत: सभी दर्शनों का यह एक आवश्यक विषय रहा है कि वे इस प्रत्यक्ष जगत की तर्क संगत व्याख्या करें। परिवर्तन अर्थात् प्रतिक्षण किसी वस्तु की उत्पत्ति और किसी का विनाश इस जगत का अनुभव सिद्ध स्वभाव है। इसलिए यह प्रश्न बहुत ही सहज है कि इस जगत् में होने वाला उक्त परिवर्तन कैसे होता है। दूसरे शब्दों में यह परिवर्तन आकस्मिक है, बिना किसी कारण के हो जाता है या इसका कुछ कारण है? चिरकाल से इस प्रश्न के विषय में समाधान रूप में कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद, पुरुषवाद का उल्लेख मिलता है। न्यायसूत्र में गौतम ने भी अनेक वादों का निर्देश किया है जिनमें कुछ तो उपनिषद् के वादों के ही समान्तर हैं और कुछ अतिरिक्त वाद भी हैं।

उपर्युक्त वादों में स्वभाववाद जिसे न्यायसूत्र में 'अनिमित्तवाद' कहा गया है, चार्वाकों का सिद्धान्त है। इसके अनुसार उक्त परिवर्तन स्वभावत: अपने आप हो जाता है। इसका कोई कारण नहीं है। अन्य वाद भी किसी रूप में कारणता सिद्धान्त से दूर ही हैं। कार्य की उत्पत्ति में नियमितता को देखकर कार्य-कारण सिद्धान्त की अनिवार्यता सुस्पष्ट है। इसलिए दार्शनिकों ने उपयुक्त सभी वादों की उपेक्षा कर कार्य कारण सिद्धान्त पर आश्रित पक्षों का अवलम्बन अपने-अपने तर्क के आधार पर किया है। उदयनाचार्य ने अपनी न्यायकुसुमाञ्जलि नामक पुस्तक के प्रथम स्तबक में कार्य-कारण सिद्धान्त की अनिवार्यता का प्रबल तर्कों द्वारा समर्थन किया है।

दार्शनिक सम्प्रदायों में कार्य-कारण सिद्धान्त की एकरूपता नहीं है। कार्य-कारण का सम्बन्ध क्या है? क्या कार्य-कारण से पूर्ण रूप में अभिन्न है या दोनों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

परस्पर भिन्न हैं? कार्य किसी भावात्मक कारण से उत्पन्न होता है या अभावात्मक कारण से? कार्य की उत्पत्ति की प्रक्रिया क्या है? इत्यादि प्रश्नों के समाधान में मतभेद के आधार पर दार्शनिकों के कार्य-कारण सिद्धान्त में विभिन्नरूपता आ गई है। दार्शनिकों में भी सांख्य, वेदान्त बौद्ध (माध्यमिक) और न्याय-वैशेषिक मुख्य हैं, जिन्होंने इस जटिल समस्या का तर्कपूर्ण समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। सांख्य का सिद्धान्त परिणामवाद, वेदान्त का विवर्तवाद, बौद्ध का शून्यवाद और न्याय- वैशेषिक का आरम्भवाद' तथा जैन का सदसद्कार्यवाद नाम से प्रसिद्ध है। इन सभी वादों में कारण एवं कार्य के सम्बन्ध की भिन्नता के साथ-साथ कारण के स्वरूप में भी भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। जैन दर्शन में भी कारण के स्वरूप के सन्दर्भ में विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। विभिन्न वादों में एकान्तिक काल, स्वभाव, नियति, पुरूषार्थ को कारण मानकर सृष्टि अथवा जगत की व्याख्या की जाती है, जबकि जैन दर्शन काल, स्वभाव, नियति, पुरूषार्थ इनमें से मात्र किसी एक को जगत का कारण न मानकर पंचसमवाय (काल, स्वभाव, नियति, पुरूषार्थ, कर्म) की सम्मिलित अवधारणा को निरूपित करते हुए जगत् के कारण की व्याख्या करता है। किन्तु जैन-दर्शन में मुख्य रूप से जगत् में घटने वाली विभिन्न घटनाओं एवं होने वाले विभिन्न कार्यों के पीछे दो प्रमुख उपादान एवं निमित्त कारणों को स्वीकार किया गया है। पंचसमवाय रूप कारणों को उपादान एवं निमित्त कारण के अन्तर्गत ही स्वीकार किया जाता है।

'संसरणं संसारः परिवर्तनमित्यर्थः'[1] अर्थात् संसरण करने को संसार कहते हैं, जिसका अर्थ है परिवर्तन। संसार अथवा जगत् का प्रत्येक पदार्थ परिणमनशील है। पदार्थों के इस परिणमन को पर्याय या कार्य कहते हैं। जगत् में होने वाले विभिन्न कार्यों के पीछे परिवर्तन की एक लम्बी श्रृंखला दृष्टिगोचर होती है। पर्याय की दृष्टि से विचार करने पर जगत में प्रतिक्षण निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। जैन वैचारिक इन परिवर्तनों को दो रूपों में विभक्त करते हैं- (1) वैस्रसिक (2) प्रयोगिक।

कुछ परिवर्तन अथवा कार्य हमें ऐसे दृष्टिगत होते हैं जो स्वतः हो जाते हैं, उन्हें किसी विशिष्ट कर्त्ता अथवा अन्य प्रयत्न की कोई अपेक्षा नहीं होती है, वे स्वमेव घटित होते हैं। ईश्वरवादी दर्शन जिन परिवर्तनों अथवा कार्यों का कर्त्ता ईश्वर को मानते हैं, जैन दर्शन उन्हें स्वाभाविक अथवा वैस्रसिक परिवर्तन की कोटि में रखता हैं। पदार्थों में होने वाला निरन्तर सूक्ष्म परिवर्तन स्वाभाविक परिवर्तन है जो कि द्रव्य की स्वाभाविक शक्ति के कारण बिना किसी दूसरे द्रव्य अथवा पदार्थ की अपेक्षा के स्वतः होता है।

इसी प्रकार कुछ परिवर्तन ऐसे होते हैं जो प्रयत्नजन्य होते हैं। उन्हें किसी बाह्य हेतु की अपेक्षा होती है, वे प्रायोगिक परिवर्तन कहलाते हैं। जैसे मूर्तिरूप कार्य के लिए बाह्य पदार्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाषाण छेनी, हथौड़ा एवं मूर्तिकार की अपेक्षा। इस प्रकार आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने बिना किसी सहायता के होने वाले परिवर्तनों अर्थात् वैस्रसिक परिवर्तन को अपरिसुद्ध एवं बाह्य हेतु की अपेक्षा रखने वाले परिवर्तनों को समुदायवाद की संज्ञा दी है।[2]

इन परिवर्तनों के फलस्वरूप ही जगत में विभिन्न प्रकार के कार्य होते हैं। प्रत्येक कार्य कारण पूर्वक ही होता है और कार्य की उत्पादक सामग्री ही 'कारण' कहलाती है। आचार्य अकलंक 'राजवार्तिक' में लिखते हैं कि 'जो निष्पादन या प्राप्त किया जाये, ऐसी पर्याय तो कार्य है और जो परिणमन करे, ऐसा द्रव्य कारण है।'[3]

जब हम कारण एवं कार्य के सम्बन्ध एवं स्वरूप पर विचार करते हैं तो एक ही द्रव्य में कारण एवं कार्य को समान रूप से बिना किसी विरोध के विद्यमान पाते हैं। द्रव्य की पूर्व पर्याय कारण एवं उत्तर पर्याय कार्य कहलाती है। नयचक्र में इसी बात को प्रमाणित करते हुए आचार्य कहते हैं-

'उप्पज्जंतो कज्जं कारणमप्पा णियं वि जणयंतो।
तम्हा इह ण विरुद्धं एकस्स वि कारणं कज्जं॥'[4]

अर्थात् उत्पद्यमान कार्य होता है और उसको उत्पन्न करने वाला निज आत्मा कारण होता है।

इसप्रकार न्याय की भाषा में कारण-कार्यभाव को अन्वय-व्यतिरेक गम्य कहा जाता है अर्थात् जिसके होने पर जो होता है और नहीं होने पर नहीं होता या जिसके बिना जो नियम से नहीं होता वह उसका कारण व दूसरा कार्य होता है।

कार्य की ये उत्पादक सामग्री दो रूपों मे विभक्त होती हैं — उपादान एवं निमित्त। इन्हें क्रमशः अन्तरंग एवं बहिरंग की संज्ञा दी जाती है। आचार्य अकलंक राजवार्तिक में कहते हैं— द्विविधो हेतुर्बाह्य आभ्यन्तरश्च।[5] द्रव्य की स्वयं की शक्ति अन्तरंग एवं बाह्य की शक्ति बहिरंग कारण कहलाती है।

वस्तुतः जो स्वयं कार्यरूप में परिणमित हो उसे 'उपादान कारण' एवं जो स्वयं तो कार्यरूप परिणमित न हो परन्तु कार्य उत्पत्ति में अनुकूल हो उसे 'निमित्त कारण' कहते हैं। जैसे किसी मूर्ति के लिए पाषाण उपादान कारण एवं छेनी, हथौड़ा व मूर्तिकार आदि 'निमित्त कारण'।

इस प्रकार जैन दर्शन में कारण एवं कारण के भेद एवं प्रभेदों का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। कारण को दो भागों में विभक्त कर उपादन एवं निमित्त कारण का वर्णन जैन ग्रन्थों में मिलता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपादान कारण - अर्थ एवं परिभाषा

द्रव्य का स्वयं कार्यरूप परिणमन करना उपादान कारण है। द्रव्य की निजी शक्ति को उपादान कहते हैं। अष्टसहस्त्री में उपादान कारण को परिभाषित करते हुए कहा है-

त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वाश्र्वेण वर्तते।
कालत्रयेऽपि तद्द्रव्यमुपादनमिति स्मृतम्॥[6]

जो पौर्वापर्य रूप से अपने आत्मरूप को त्यागता भी है और नहीं भी त्यागता, तीनों कालों में अपने पूर्व रूप से और अपूर्व रूप से वर्त रहा है वह उपादान कारण है।

स्वामी विद्यानन्दजी ने भी उपादान कारण और कार्य के स्वरूप को बहुत ही संक्षेप में वर्णित करते हुए **अष्टसहस्त्री टीका** में कहा है- **उपादानस्य पूर्वाकारेण क्षयः कार्योत्पाद एवं हेतोर्नियमात्।**[7]

उपादान का पूर्वाकार से कार्य का उत्पाद ही है, क्योंकि ये दोनों एक हेतु से होते हैं, ऐसा नियम है।

इस प्रकार अनन्तर पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्य की उपादान संज्ञा है और जो अनन्तर उत्तर पर्यायविशिष्ट द्रव्य है उसकी कार्य संज्ञा है। जैसे पाषाण का पाषाण रूप पर्याय से मूर्ति रूप पर्याय में परिणमन क्रमशः उपादान कारण रूप द्रव्य एवं कार्य है।

प्रत्येक द्रव्य में दो अंश होते हैं— एक शाश्वत और एक क्षणिक। गुण शाश्वत होने के कारण अपने स्वरूप को त्रिकाल में नहीं छोड़ते और पर्याय क्षणिक होने के कारण अपने स्वरूप को प्रतिक्षण छोड़ती है। यह दोनों ही अंश उस द्रव्य से पृथक् कोई अर्थान्तर रूप नहीं है। इन दोनों से समवेत द्रव्य ही कार्य का उपादान कारण है। द्रव्य का न तो केवल सामान्य अंश उपादान होता है और न केवल विशेष अंश उपादान होता है। इसी को प्रमाणित करते हुए आचार्य विद्यानन्दजी ने अष्टसहस्त्री में कहा है-

यत् स्वरूपं त्यजत्येव यन्न त्यजति सर्वथा।
तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वतं यथा॥[8]

जो पूर्णरूप से अपने स्वरूप को छोड़ ही देता है (पर्याय) एवं जो सर्वथा अपने स्वरूप में ही रहता हुआ परिणमित नहीं होता है वह उपादान नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वथा क्षणिक एवं सर्वथा शाश्वत कोई पदार्थ नहीं हो सकता।

इस प्रकार शाश्वतता एवं क्षणिकता दोनों समान रूप से उपादान कारण अर्थात् कारण रूप द्रव्य की विशेषताएं हैं। सर्वथा क्षणिक पदार्थ प्रतिक्षण विनष्ट ही हो जाता है तब उसमें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कारणता का प्रसंग ही नहीं आएगा एवं सर्वथा शाश्वत पदार्थ में परिणमन का अभाव होने से नए कार्य की उत्पत्ति ही नहीं होगी। स्वामी कार्तिकेय 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में कहते हैं--

जं वत्थु अणेयतं तं चिय कज्जं करेई णियमेण।
बहुधम्मजुदं अत्थं कज्जकरं दीसदे लोए॥[9]

जो वस्तु अनेकान्त स्वरूप है वही नियम से कार्यकारी होती है, क्योंकि बहुत धर्मों से युक्त अर्थ ही जगत में कार्यकारी देखा जाता है। एकान्त रूप द्रव्य लेशमात्र भी कार्य करने में समर्थ नहीं होता है। यदि पाषाण रूप शाश्वत, एकान्तिक द्रव्य में पर्याय रूप परिणमन न हो तो त्रिकाल में भी मूर्ति रूप कार्य की उत्पत्ति नहीं होगी। इसी तरह यदि एकान्तिक क्षणिक द्रव्य को मानने पर पाषाण मूर्तिरूप कार्य का उपादन कारण नहीं बन सकेगा, क्योंकि पूर्व क्षण की पर्याय का उत्तर क्षण की पर्याय से कोई सम्बन्ध ही नहीं होगा।

इस प्रकार द्रव्य एवं पर्याय को दृष्टिगत रखते हुए हम उपादान को मुख्यत: दो भागों में विभक्त कर सकते हैं-- (1) त्रिकाली उपादान (2) क्षणिक उपादान।

जो द्रव्य या गुण स्वयं कार्यरूप परिणमित हो, उस द्रव्य या गुण को उस कार्य का त्रिकाली उपादान कारण कहते हैं। क्षणिक उपादान का द्रव्य और गुणों में जो पर्यायों का प्रवाहक्रम अनादि - अनन्त चलता रहता है उसी की संज्ञा है। अनन्तर पूर्व क्षणवर्ती पर्याय क्षणिक उपादान कारण एवं अनन्तर उत्तर क्षणवर्ती पर्याय कार्य है।

उक्त सन्दर्भ की पुष्टि कार्तिकेयानुप्रेक्षा की निम्न गाथा से होती है-

पुव्वपरिणाम जुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तर परिणाम जुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा ॥[10]

अर्थात् अनन्तरपूर्व परिणाम से युक्त द्रव्य कारण रूप से परिणामित होता है और अनन्तर - उत्तर पर्याय विशिष्ट द्रव्य है, उसकी कार्य संज्ञा है।

इसी प्रकार पर्याय की तत्समय योग्यता भी क्षणिक उपादान कारण है। क्षणिक उपादान कारण को समर्थ उपादान कारण भी कहते हैं, क्योंकि त्रिकाली उपादान कारण तो सदा विद्यमान रहता है; यदि उसे ही पूर्ण समर्थ कारण मान लिया जाय तो विवक्षित कार्य की निरन्तर उत्पत्ति होती ही रहेगी किन्तु ऐसा नहीं होता है। इसलिए पूर्व क्षणवर्ती पर्याय का व्यय एवं उस पर्याय की उस समय की योग्यता ही किसी कार्य का समर्थ उपादान है। जिनके न होने पर कार्य उत्पन्न नहीं होता एवं जिनके होने पर कार्य नियम से उत्पन्न होता है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में उपादान के दो भेद करते हुए एक असमर्थ उपादान एवं दूसरा समर्थ उपादान माना गया है। जिसमें समर्थ उपादान को ही कार्य का अवश्य जनक माना है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार समर्थ उपादान एक ही होता है और उससे उत्पन्न होने वाले कार्य का ही वह समर्थ उपादान होता है। अत: कार्य का नियामक कारण त्रिकाली उपादान कारण न होकर क्षणिक उपादान कारण होता है।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि वस्तु की निजशक्ति ही उपादान कारण है और यह शक्ति दो प्रकार की है– द्रव्यशक्ति एवं पर्यायशक्ति। पर्यायशक्ति से युक्त द्रव्यशक्ति ही कार्यकारी होती है। द्रव्यशक्ति नित्य होती है और पर्याय शक्ति अनित्य। नित्यशक्ति के आधार पर कार्य की उत्पत्ति मानने पर कार्य के नित्यत्व का प्रसंग आता है, अत: पर्यायशक्ति को ही कार्य का नियामक कारण कहते हैं।

निमित्त कारण

द्रव्य के कार्य रूप परिणत होने में जो सहायक होते हैं, वे निमित्त कारण कहलाते हैं। सहकारी, सहयोगी, उपग्रही कारण निमित्त कारण हैं। सर्वार्थ सिद्धि में प्रत्यय, कारण एवं निमित्त को एकार्थवाची माना गया है।[11]

'पूरयतीति पूर्वं निमित्त कारणमित्यनर्थान्तरम्'[12] अर्थात् जो पूरता है अथवा उत्पन्न करता है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार पूर्व निमित्त एवं कारण पर्यायवाची हैं। यद्यपि उपादान कारण अथवा द्रव्य ही कार्य रूप परिणत होता है तथापि जिनकी सहायता से वह कार्यरूप परिणत होता है उनको कारण की संज्ञा दी जाती है, क्योंकि बिना किसी सहायक सामग्री के प्रायोगिक परिवर्तन हमें इस सृष्टि में दृष्टिगोचर होता हुआ नहीं दिखता है। बिना पाषाण के मूर्ति नहीं बनती किन्तु बिना मूर्तिकार एवं निर्माण सामग्री के भी स्वयं पाषाण मूर्ति रूप परिवर्तित नहीं होता। श्लोकवार्तिक में निमित्त की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'कार्यकाल में एक क्षण पहले से रहते हुए कार्योत्पत्ति में सहायता करने वाले अर्थ को निमित्त कारण कहते हैं।'[13] चूंकि निमित्त कारण द्रव्य की निज शक्ति रूप नहीं होते, इसलिए उनमें (निमित्त कारण के रूप) द्रव्यगत विशेषताओं का भी अभाव होता है। यद्यपि वही निमित्त पदार्थ किसी कार्य की अपेक्षा उपादान भी होता है और किसी की अपेक्षा निमित्त, किन्तु जब हम उस पदार्थ को निमित्त रूप मानते हैं तो वह पदार्थ उस कार्य की निज शक्ति न होकर बाह्य अथवा सहकारी शक्ति होता है। निमित्तों के अनुसार कार्य नहीं होता अपितु कार्य के अनुसार निमित्त होता है। आगम में निमित्त के दो प्रकार मिलते हैं – (1) प्रेरक निमित्त, (2) उदासीन निमित्त।

प्रेरक निमित्त– कोई क्रियावान या सक्रिय द्रव्य होता है जो सहकारी अथवा उदासीन निमित्तों की सहायता से कार्य के निष्पन्न होने में सहायक होता है। प्रेरक निमित्त द्रव्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की क्रिया में हेतुकर्ता होता है। जैसे गति परिणामत पवन ध्वजाओं के हेतुकर्ता होता है और मूर्ति के निर्माण में मूर्तिकार प्रेरक निमित्त। इस प्रकार प्रेरक निमित्त कार्य को मूर्त रूप देने का कार्य करते हैं। छात्रों के अध्ययन में अध्यापक प्रेरक निमित्त हैं, क्योंकि वह सक्रिय होकर प्रेरणा देता है। छात्रों के ज्ञान को मूर्त रूप देता है। इस प्रकार क्रिया के क्रियान्वयन में प्रेरक निमित्त कार्य का रूप निर्धारित करते हुए महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। प्रेरक निमित्त की तरह ही उदासीन निमित्त के बिना कार्य असम्भव होता है । उदासीन निमित्त अन्य द्रव्य को प्रेरणा किये बिना उसके सहायक कारण होते हैं।

इसलिए उदासीन निमित्त को भी अविनाभावी सहायक कारण माना गया है। 'पंचास्तिकाय' में आचार्य कुन्दकुन्द ने उदासीन निमित्त की विशेषता बताते हुए कहा है- 'धर्म द्रव्य स्वयं गमन न करते हुए तथा अधर्म द्रव्य पहले से ही स्थिति रूप वर्तते हुए पर-द्रव्य को गमन व स्थिति न कराते हुए जीव व पुद्गलों को अविनाभावी सहायरूप कारण मात्र से गमन व स्थिति में अनुग्रह करते हैं। वहीं पर आचार्य आगे कहते हैं—सिद्ध भगवान् स्वयं उदासीन रहते हुए भी सिद्धों के गुणानुराग रूप से परिणत भव्यों की सिद्धगति में सहकारी कारण होते हैं।[14] इसप्रकार इच्छाशक्ति से रहित एवं निष्क्रिय द्रव्य उदासीन निमित्त होते हैं जैसे धर्म, अर्धम, आकाश, एवं काल द्रव्य। इसी प्रकार छात्रों के अध्ययन में जितनी उपयोगिता अध्यापक की है उतनी ही पुस्तक एवं दीपक की भी है। कोई मूर्तिकार बिना छेनी, हथौड़े के मात्र अपनी इच्छा से मूर्ति का निर्माण नहीं कर सकता है।

वस्तुत: उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि निमित्त कारण के इन दोनों प्रकारों में से किसी भी एक की भूमिका को महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता है। प्रेरक एवं उदासीन निमित्त दोनों मिलकर ही किसी कार्य के होने में सहायक होते हैं। निमित्त कारण का स्वरूप इन दोनों कारणों के संयुक्त रूप का ही परिणाम है।

निमित्त कारण की उपयोगिता

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने समय प्राभृत में निमित्त कारण की उपयोगिता का उल्लेख किया है। उन्होंने कहा है कि मात्र कुम्भकार की उपस्थिति से घट का निर्माण नहीं होता, अपितु उसके योग तथा उपयोग घट का उत्पाद करते हैं। निमित्त मात्र उपस्थित ही नहीं रहता बल्कि प्रभाव भी डालता है, सहायता भी करता है। विश्व में छहों द्रव्य परस्पर प्रभावित करते हैं, इसीलिए इसका नाम विश्व है।[15] आचार्य उमास्वामी ने तत्वार्थसूत्र में 'गतिस्थित्युपग्रहौ, धर्माधर्मयोरूपकार:'[16] आदि अनेक सूत्रों में निमित्त कारण की महत्ता बताते हुए प्रभावक - प्रभाव्य व उपग्रही -उपकृत रूप को प्रस्तुत किया है। इस प्रकार मात्र उपस्थित रहने वाला पदार्थ ही निमित्त नहीं होता अपितु वही पदार्थ निमित्त कारण होता है जो कार्य में उपयोगी हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपादान - उपादेय एवं निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध

जिस पदार्थ में कार्य निष्पन्न होता है, उसे उपादेय कहा जाता है तथा निमित्तकारण की अपेक्षा कथन करने पर उसी कार्य (उपादेय) को नैमित्तिक भी कहा जाता है। जो मूर्तिरूप कार्य पाषाण रूप उपादान कारण का उपादेय कार्य है वही मूर्तिरूप कार्य मूर्तिकार रूप निमित्तकारण का नैमित्तिक कार्य है अर्थात् मूर्ति एवं पाषाण में उपादान-उपादेय सम्बन्ध तथा मूर्तिकार एवं मूर्ति में निमित्त- नैमित्तिक सम्बन्ध है। इस प्रकार उपादान-उपादेय सम्बन्ध एवं निमित्त - नैमित्तिक सम्बन्ध कारण - कार्य सम्बन्ध के ही रूप हैं जो प्रत्येक कारण-कार्य सम्बन्ध पर अनिवार्य रूप से घटित होते हैं। इसलिए प्रत्येक कार्य नियम रूप से उपादेय भी है और नैमित्तिक भी है।

उपादान एवं निमित्त कार्य की कथंचित् प्रधानता एवं गौणता

अकलंकदेव ने अपने 'तत्त्वार्थवार्तिक' में एक स्थान पर उपादान की प्रधानता से कथन किया है तो दूसरे स्थान पर निमित्तों की प्रधानता से भी कथन किया है। वे लिखते हैं- मिट्टी के स्वयं घट होने रूप परिणाम के अभिमुख होने पर दण्ड, चक्र और कुम्हार का प्रयत्न आदि निमित्त मात्र होता है, क्योंकि दण्ड आदि निमित्तों के होने पर भी यदि मिट्टी-कंकर आदि से भरी हो तो स्वयं घट रूप परिणाम के अभिमुख होने से घट रूप नहीं होती। अत: मिट्टी ही बाह्य दण्डादि निमित्तों की अपेक्षापूर्वक अभ्यंतर में घट परिणाम के अभिमुख होते हुए घट रूप होती है, दण्डादि घट रूप नहीं होते।

अत: दण्डादि निमित्तमात्र हैं।[17] यद्यपि आचार्य ने इस कथन में उपादान की मुख्यता तथा निमित्तों की गौणता बतलाई है, किन्तु वहीं वे आगे कहते हैं- जैसे मिट्टी घट परिणाम रूप होने के लिए अभ्यन्तर में सामर्थ्य होते हुए बाह्य कुम्भकार दण्ड, चक्र, सूत्र, जल, काल, आकाश आदि उपकरणों की अपेक्षापूर्वक घट पर्याय रूप से प्रकट होती है। अकेली मिट्टी कुम्भकार आदि बाह्य साधनों के मिले बिना घट रूप से होने में समर्थ नहीं हैं।[18] इस प्रकार यहाँ उपादान कारण की सामर्थ्य स्वीकार करते हुए भी उसकी अभिव्यक्ति के लिए बाह्य निमित्तों पर जोर दिया है।

वस्तुत: कार्य न सर्वथा स्वत: होता है, न सर्वथा परत: अपितु प्रत्येक कार्य अन्तरंग अर्थात् उपादान एवं बाह्य अर्थात् निमित्त दोनों कारणों के सम्मेल से होता है। स्पष्ट है कि अकेला उपादान कार्य को करने में असमर्थ है तो वहीं निमित्त उपादान पर आश्रित होते हुए परतन्त्र हैं, इसलिए उपादान एवं निमित्त दोनों ही कार्य के लिए कथंचित् प्रधान एवं गौण है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ -

1. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि- 1/10
2. आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, सन्मति प्रकरण - 3/32
3. आचार्य अकलंक, राजवार्तिक - 1/33 /1 95 /4
4. श्री माईल्ल धवल, नयचक्र, गाथा सं. - 366
5. आचार्य अकलंक, राजवार्तिक - 2/8/1/118/ 12
6. आचार्य विद्यानन्द, अष्टसहस्त्री
7. वही. भाग-III कारिका सं. 858
8. वही. कारिका
9. स्वामी कार्तिकेय, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा संख्या - 225
10. वही. गाथा संख्या - 230
11. सर्वार्थसिद्धि - 1/21
12. वही, - 1/20
13. आचार्य कुमारिल - श्लोकवार्तिक - 2/1/2/11/28/13
14. आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय कथा, संख्या, 84 (तात्पर्यवृत्ति)
15. आचार्य कुन्दकुन्द, समय प्राभृत, गाथा संख्या - 100
16. आचार्य उमास्वामी, तत्त्वार्थसूत्र - 5/17
17. आचार्य अकलंक, तत्त्वार्थवार्तिक 5/17/16
18. वही, 5/17/31

शोधार्थी,

जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विभाग

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ-341306 (राज.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपरिग्रह एवं उसका लोकोपकारी स्वरूप

— सुमत जैन

आज विश्व भौतिक दृष्टि से उन्नति के पथ पर प्रगति करते हुए भी अवनति की ओर जा रहा है। चारों ओर त्राहि-त्राहि मची है, नित्य बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के योग्य पर्याप्त सामग्री के अभाव में असंतोष बढ़ रहा है। आज मनुष्य एक-दूसरे की ओर संशय और भय की दृष्टि से देख रहा है। एक व्यक्ति दूसरे की सम्पत्ति हड़पने के लिए अवसर की तलाश में है। जीवन और मृत्यु के झूले में झूल रहा है। आज जीवन भार बन चुका है। ऐसी दयनीय अवस्था पूरे विश्व में व्याप्त है। इस अवस्था से छुटकारा पाने का उपाय केवल अपरिग्रह है।

अपरिग्रह का अर्थ- अपरिग्रह शब्द में लगा हुआ 'अ' नञ् समास बोधक है एवं वह 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'ग्रह' धातु से बनता है।[1] ग्रह का अर्थ है- ग्रहण करना एवं परि का अर्थ है- चारों ओर अर्थात् चारों ओर से ग्रहण करना परिग्रह कहलाता है लेकिन 'अ' नञ् समास बोधक होने से नकारात्मक है, अत: हम कह सकते हैं कि जहां कुछ ग्रहण नहीं करना हो वह अपरिग्रह है। अपरिग्रह शब्द का अर्थ यह भी है कि जिसके पास कोई समान न हो एवं न नौकर चाकर हो।[2] जो पुण्यात्मा इसको अपने आचरण में लाता है, उत्साह से पालता है वही अपरिग्रही होता है।

अपरिग्रह का विलोम परिग्रह है। परिग्रह के अर्थ को समझकर ही उसका त्याग करके अपरिग्रह को अपना सकते हैं, अत: परिग्रह का स्वरूप जानना अपेक्षित है। परिग्रह को परिभाषित करते हुए आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र में एक सूत्र दिया है- ''मूर्च्छा परिग्रहों'' अर्थात् मूर्च्छा परिग्रह है। प्रश्न उठता है- मूर्च्छा क्या है? पर द्रव्य में ममत्त्व बुद्धि का नाम मूर्च्छा है। जो जीव बाह्य संयोग विद्यमान न होने पर भी ऐसा संकल्प करता है कि यह मेरा है वह परिग्रह सहित है। मूर्च्छा के सम्बन्ध में यह भी कहा है- गाय, भैंस, मणि, मोती आदि चेतन-अचेतन बाह्य उपाधि तथा आभ्यन्तर उपाधि का संरक्षण, अर्जन और संस्कार आदि रूप व्यापार ही मूर्च्छा है।[3] मूर्च्छा तु ममत्व परिणाम:[4] ममत्व परिणाम ही मूर्च्छा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी भी पदार्थ को द्रव्य और भाव रूप सभी ओर से ग्रहण करना या ममत्व बुद्धि से रखना परिग्रह है।[5] दशवैकालिक सूत्र में कहा है- साधु-साध्वी जो भी पात्र, वस्त्र, कम्बल या पाद-पौंछन आदि धर्मोपकरण रखते हैं या धारण करते हैं वे संयम-पालन और लज्जा - निवारण के लिए हैं। इसलिए प्राणि मात्र के उद्धारक ज्ञातृपुत्र महावीर ने उक्त धर्मोपकरण समूह को परिग्रह नहीं कहा है। सभी तीर्थंकरों द्वारा मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा गया है। यही बात महावीर ने कही है।[6] भारतीय चिन्तन परम्परा में भी इस तरह का उल्लेख प्राप्त होता है-

मूर्च्छायाच्छन्नधियां सर्वं जगदेव परिग्रहः।
मूर्च्छया रहितानां तु जगदेवा परिग्रहः॥

अर्थात् मूर्च्छा से जिनकी बुद्धि आच्छादित हो गई है उनके लिए सारा जगत ही परिग्रह रूप है और जिनके मन-मस्तिष्क मूर्च्छा से रहित है उनके लिए सारा जगत ही अपरिग्रह है। महाभारत में भी कहा है- बन्ध और मोक्ष के लिए दो ही पद अधिकतर प्रयुक्त होते हैं— 'मम-निर्मम' अर्थात् जब किसी पदार्थ के प्रति मम (ममत्व-मेरापन)-मेरा है, यह भाव आ जाता है तब प्राणी कर्मबन्ध से बंध जाता है एवं किसी पदार्थ के प्रति निर्मम (मेरा नहीं है) भाव आता है तब बन्धन से मुक्त हो जाता है।[7]

उक्त चर्चा से यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि बाह्य-परिग्रह के साथ आभ्यन्तर में ममत्व परिणाम का त्याग करना अनिवार्य है, क्योंकि बाह्य-पग्रिह बिना भी मूर्च्छा करने वाला पुरुष निश्चित रूप से परिग्रह सहित है, लेकिन अन्तरंग में ममत्व नहीं है तो निश्चित रूप से परिग्रह रहित है, यह शाश्वत सत्य है।

जैन परम्परा में परिग्रह के मुख्यतः दो भेद प्राप्त होते हैं - बाह्य परिग्रह एवं आभ्यन्तर परिग्रह। आभ्यन्तर परिग्रह के चौदह भेद हैं[8] एवं बाह्य परिग्रह के दस भेद हैं।[9] यही भेद पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में भी प्राप्त होते हैं।[10] बाह्य परिग्रह के दो भेद आगम परम्परा में प्राप्त होते हैं। "चित्तमचित्तं वा परिगिज्झ"। चेतन और अचेतन के भेद से बाह्य परिग्रह के दो भेद है। सचित्त परिग्रह (चेतन) में मनुष्य, पशु, पक्षी (द्विपद, चतुष्पद) तथा वृक्ष, पृथ्वी, वनस्पति फल, धान्य आदि समस्त सजीव वस्तुओं का समावेश हो जाता है और अचित्त (अचेतन) परिग्रह में क्षेत्र, वास्तु (मकान), सोना, चाँदी, मणि, वस्त्र, वर्तन, सिक्के, नोट आदि सभी निर्जीव वस्तुओं का समावेश हो जाता है।[11] बाह्य-परिग्रह के जो सचित्त और अचित्त भेद है उनको अल्प मात्रा में भी रखता है अथवा दूसरे को अनुज्ञा देता है वह दुःख से मुक्त नहीं होता है।[12] एक बात यह भी स्पष्ट हो जाती है कि परिग्रह का मूर्च्छा लक्षण करने से व्याप्ति भली प्रकार घटित होती है, क्योंकि बाह्य-परिग्रह बिना मूर्च्छा करने वाला पुरूष निश्चय से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बाह्य-परिग्रह सहित है। दूसरे शब्दों में जहां-जहां मूर्च्छा है वहां-वहां परिग्रह अवश्य है और जहां मूर्च्छा नहीं है वहां परिग्रह भी नहीं है। मूर्च्छा की परिग्रह के साथ व्याप्ति है।[13] इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बाह्य-परिग्रह त्याग के पूर्व अन्तरंग परिग्रह रूप ममत्व परिणाम छोड़ना अनिवार्य है।

वर्तमान में जो मनुष्य परिग्रह में सुख मानते हैं वे मूर्खों में शिरोमणि है। अधिक सम्पत्ति सदाचार की शिक्षिका नहीं अपितु दुराचार की देन है। जिसकी हमें आज आवश्यकता नहीं उसे भविष्य की चिन्ता से संग्रह करना परिग्रह है। परिग्रह का नाम संग्रहवृत्ति भी है। संग्रहवृत्ति के पीछे कारण होते हैं— लोभ, इच्छा, स्वार्थ एवं तृष्णा। इन कारणों में से तृष्णा को प्रबल कारण माना है, क्योंकि बाकी कारण इसी में ही समाहित हो जाते हैं। भगवान महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र में जागतिक दुखों का कारण तृष्णावृत्ति को माना है वहां कहा गया है कि जिसकी तृष्णा समाप्त हो जाती है उसका मोह समाप्त हो जाता है, जिसका मोह समाप्त हो जाता है उसके दुःख भी मिट जाते हैं।[14] तृष्णा असीम है और भौतिक साधन सीमित है अतः सीमित साधनों से असीमित तृष्णा की पूर्ति नहीं हो सकती।[15] तृष्णा ही परिग्रह का मूल है। आसक्ति ही परिग्रह है।[16] आसक्ति की ही दूसरी संज्ञा लोभ है और सद्गुणों का विनाशक है।[17] परिग्रह इच्छुक मनुष्य गर्मी, सर्दी, धूप, वायु, वर्षा, प्यास, भूख, श्रम, मार्ग चलना आदि का दुस्सह कष्ट सहन करता है और अपनी शक्ति से भी अधिक भार ढोता है।[18] लोभ के बारे में हिन्दी-साहित्य के प्रख्यात निबन्धकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने लेख ''लोभियों का दमन'' में लिखा है—

''लोभियों का दमन (संयम) योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता है। लोभ के वश से वे काम-क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान-अपमान में समान भाव रखते हैं। अब और चाहिए क्या? जिससे वे कुछ पाना चाहते हैं, यदि वह उन्हें दस गालियां भी देता है तो उनकी आकृति पर कोई रोष का चिह्न प्रकट नहीं होता है और न मन में ग्लानि होती है, न उन्हें मक्खी चूसने में दया, सुन्दर से सुन्दर रूप देखकर वे अपनी एक कोड़ी भी नहीं भूलते। तुच्छ से तुच्छ व्यक्ति के सामने हाथ फैलाने में वे लज्जित नहीं होते। क्रोध, दया, घृणा, लज्जा आदि करने से क्या मिलता है कि करने जाए। वे शरीर सुखाते हैं, अच्छा-भोजन, अच्छे वस्त्र आदि की आकांक्षा नहीं करते, लोभ के अंकुश से अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में रखते हैं। लोभियों! तुम्हारा अक्रोधक, तुम्हारा इन्द्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है। तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो। तुम्हें धिक्कार है।''

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तृष्णा का एक रूप इच्छा भी है। जैन विचारधारा में इच्छा एक ऐसी खाई है जिसकी पूर्ति कभी नहीं हो सकती है। आत्मानुशासन में कहा है-

"आशागर्तः प्रतिप्राणी यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥ 36॥"

अर्थात् आशा रूपी (इच्छा) गड्ढा प्रत्येक प्राणी में पाया जाता है। अनन्तानन्त जीव है। उन सभी के आशा पायी जाती है तथा वह आशा रूपी गड्ढा कैसा है? उस एक गड्ढे में समस्त लोक अणु समान है और लोक तो एक ही है तो अब कहो किसको कितना दिया जाए या किसके हिस्से में कितना आये। इसलिए तुम्हें जो यह विषयों की इच्छा सो व्यर्थ है। इसी प्रकार का विवेचन उत्तराध्ययन सूत्र में भी प्राप्त होता है- यदि सोने और चाँदी के कैलाश के समान असंख्य पर्वत भी खड़े कर दिये जाये तो भी तृष्णा शान्त नहीं हो सकती है, क्योंकि धन चाहे कितना भी हो किन्तु सीमित है। लेकिन तृष्णा वा इच्छा अनन्त है। अतः पूर्ति नहीं हो सकती।

तृष्णा का एक रूप 'स्वार्थपूर्ति' भी है। वर्तमान में मनुष्य व्यक्तिगत रूप से अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए परिग्रह को संग्रहीत करता है। जिसके कारण लोग उसको सम्मान एवं ऊँचा दर्जा दें, क्योंकि आज बड़ा वह कहलाता है जिसके पास विलासिता के सभी साधन उपलब्ध हों, जिसके पास मकान, नौकर चाकर, कारखानें हों। वही व्यक्ति समाज की दृष्टि और सरकार की दृष्टि में बड़ा होता है। अतः समाज में ऊँचा दर्जा प्राप्त करने के लिए आज व्यक्ति मजदूरों का अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए शोषण करता है। धन-संग्रह के लिए पाँचों-पापों में लिप्त रहता है- व्यक्ति धन संग्रह के लिए हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन का सेवन करता है एवं अत्यधिक मूर्च्छा करता है।[19] परिग्रहवृत्ति के कारण आज व्यक्ति को रिश्वत लेना साधारण-सी बात हो गई है। छोटे से लेकर बड़ा अफसर तक सभी रिश्वत लेने से नहीं हिचकते हैं। सरकार रोकथाम कहाँ तक करे, समझाते-समझाते थक चुकी हैं। चोरी-बाजारी का बोलबाला भी बहुत देखने में आता है- गेहूं, चीनी, कपड़े आदि कहां तक गिनाया जाये, पग-पग पर प्रत्येक वस्तु में चोर-बाजारी का जोर है।

सर्वत्र परिग्रह वृत्ति के कारण झूठ, छल-प्रपंच ही दृष्टिगत होता है। धन की लगन में मनुष्य धर्मध्यान और ईमान तक भुला बैठा है। स्वार्थ ने मनुष्य को सभी ओर से जकड़ लिया है। ग्लोबलाइजेशन के इस युग में व्यापार-विस्तार की प्रतियोगिता एवं अपने उत्पादित वस्तुओं की ब्रिकी के लिए बाजारों की खोज और होड़ आज के विश्व की सबसे बड़ी समस्या है। इसमें भी व्यक्ति का अपना स्वार्थ एवं 'लाभ-का-लोभ' की पुष्टि करने के लिए करता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज का युग वैश्वीकरण और भोग-प्रधान है। इस युग में समाज में बढ़ते हुए विद्वेष, संघर्ष, शोषण, गरीबी, छल-कपट, वर्गभेद, चोर-बाजारी, मुनाफाखोरी, पूंजीवाद आदि के लिए हमारी आवश्यकता से अधिक संग्रह करने की मनोवृत्ति ही उत्तरदायी है।

उक्त समस्याओं के समाधान के लिए भगवान् महावीर ने 'अपरिग्रह' का उपदेश दिया। जो वर्तमान जीवन में प्रासंगिक भी है। अपरिग्रह को चरितार्थ करने के लिए इच्छाओं पर नियन्त्रण करना या परिग्रह को परिमित करना अतिआवश्यक है। परिमाण से अधिक का उपभोग अपने लिए नहीं वरन् समाज के लिए होना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार अहिंसा का वैचारिक आधार अनेकान्त दृष्टि है उसी प्रकार इसका सामाजिक आधार अनासक्ति या अपरिग्रह है।

जैनाचार्यों ने परिग्रह परिमित करने के लिए बड़ी ही सूक्ष्मता से अपरिग्रहव्रत के अतिचारों का उपदेश दिया ताकि व्यावहारिक जीवन में अपरिग्रह की साधना करने के लिए व्यक्ति को निर्देश मिल सके। क्षेत्र-वास्तु, हिरण्य-स्वर्ण, धन-धान्य, दास-दासी एवं कुप्य-भांड के प्रमाणों का अतिक्रम— ये परिग्रह-परिमाणव्रत के अतिचार हैं।[20] अभिप्राय यह है कि इन वस्तुओं का परिमाण निश्चित करना चाहिए। लोभवश इनका अतिक्रम नहीं करना चाहिए। रत्नकारण्ड श्रावकाचार में गृहस्थ के परिग्रह परिमाणव्रत के पाँच अतिचारों का सामयिक वर्णन प्राप्त होता है—

"अतिवाहनातिसंग्रहविस्मय लोभातिभारवाहनानि।
परिमित परिग्रहस्य च विक्षेप पञ्च लक्ष्यन्ते।।[21]"

परिमित परिग्रह के नाम में पाँच अतिचार--

1. घोड़ा, ऊँट, बैल इत्यादि तिर्यञ्चों तथा दास-दासी, सेवक आदि को अतिलोभ के वश मर्यादा रहित अतिदूर की मंजिल तक ले जाना, बहुत चलाना आदि अतिवाहन नाम का अतिचार है।
2. अपने घर में बिना प्रयोजन ही बाह्य पदार्थों का संग्रह करना। भोजन, पात्र, वस्त्र इत्यादि थोड़े की आवश्यकता हो किन्तु संग्रह बहुत करना, धान्य, वस्त्र, औषधि, काष्ठ, पाषाण, धातु इत्यादि का बहुत संग्रह करने में ही परिणामों का रहना अतिसंग्रह नाम का अतिचार है।
3. दूसरों के यहाँ बहु-संपत्ति, बहु-परिग्रह, अनेक देशों की वस्तुएं तथा कभी नहीं देखी ऐसी वस्तुओं को देखकर, सुनकर आश्चर्य करना। वह विस्मय नाम का अतिचार है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4. किसी व्यापार एवं सेवा में, कला या हुनर के माध्यम से अपने आपको लाभ होने पर भी तृप्त नहीं होना, संतोष नहीं करना अतिलोभ नाम का अतिचार है।

5. लोभ के वश से तिर्यञ्चों (पशुओं) के ऊपर सीमा से अधिक भार लादकर चलाना आदि वह अतिभार-वाहन नाम का अतिचार है।

उक्त अतिचारों के अभाव के द्वारा ही समतावादी समाज की रचना की जा सकती है। फलत: व्यक्ति मर्यादित वस्तुओं को रखेगा एवं अन्य अनावश्यक वस्तुओं, पैसा, जमीन, जायदाद और संपत्ति आदि से निवृत्ति रखेगा। अनावश्यक लाभ और संग्रह की वृत्ति का अभाव एवं संतोष वृत्ति जागृत होगी।

परिग्रहपरिमाण व्रत का ही दूसरा नाम इच्छा-परिमाण व्रत है। इच्छाएं आकाश के समान अनन्त हैं। इच्छा पूर्ति, इच्छारूपी अग्नि की वृद्धि में घृत का कार्य करती है एवं तृष्णा को बढ़ाती है। अत: इच्छा तृप्ति का श्रेष्ठ उपाय इच्छा-परिमाण और इच्छा-नियंत्रण है। यद्यपि साधारण लोगों के लिए इच्छाओं का सर्वथा त्याग संभव नहीं है परन्तु उन्हें परिमित अवश्य किया जा सकता है। मनुष्य को उतना ही परिग्रह रखना या संग्रह करना चाहिए। जितना उसके एवं उसके आश्रितों के लिए अनिवार्य है। अनावश्यक संग्रह ही हमारी सामाजिक विषमता का मुख्य कारण है। अत: यदि हम वास्तव में सरल एवं सच्चा सामाजिक जीवन जीना चाहते हैं तो हमें अपनी बढ़ी हुई तृष्णा पर अंकुश लगाना ही होगा।

पं. टोडरमल जी ने इच्छा के चार भेद उल्लिखित किये हैं[21]- (1) विषय ग्रहण करने की इच्छा (2) कषाय भावों के अनुसार कार्य करने की इच्छा। (3) पाप के उदय के कारण होने वाली इच्छा (4) पुण्य के उदय से होने वाली इच्छा। पंडित जी कहते हैं- इन इच्छाओं की तृप्ति बिना भी कार्य चल सकता है लेकिन अज्ञानी और अबोध व्यक्ति इनकी पूर्ति करने में सुख मानता है एवं निरन्तर प्रयत्न करता है। अत: इच्छाओं पर नियन्त्रण रखना चाहिए तथा संतोष वृत्ति को धारण करना चाहिए। कहा भी गया है —

"तृष्णा लोभ बढ़े न हमारा, तोष सुधा नित पिया करें।"

अपरिग्रह को भावात्मक शब्दावली में हम संतोष भी कह सकते हैं। जिसका महत्त्व भारतीय चिन्तन-परम्परा में पर्याप्त रूप से वर्णित है। योगशास्त्र में अपने पंचयमों में यदि अपरिग्रह को स्थान दिया है तो नियमों में संतोष का भी उल्लेख प्राप्त होता है। पंचेन्द्रिय विषय-भोगों में आसक्ति कम करने के लिए परिग्रह-परिमाणव्रत की भावनाओं की व्याख्या भी चिन्तकों ने स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण एवं शब्द के प्रति रागद्वेष वर्जन की बात की। जैनदर्शन के अतिरिक्त अपरिग्रह का महत्त्व भारतीय चिन्तन में भी स्वीकार किया गया है। वेद उपनिषद्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' एवं "मा गृधः कस्य स्विद् धनम्" कहकर परिग्रह त्याग का मार्ग प्रशस्त किया है। जो इस प्रकार है-

The purport of the Upnishad is that whatever life there is in this world is filled with God. Nothing exist without God. Speaking in terms of Kingdom, Only he reigns. He alone is the master. Understanding that it is our duty to offer everthing to him, and whatever we reciever from him. We must joyfully accept his gracious gift. Nothing belongs to me, everything belongs to him. This must be our attitute.

Whosoever lives in this way considering nothing to be his own, everything God's he will recieve every thing. Whatever he recieves he will be satisfied with. He will not envy others. He will not cover the wealth of others.[22]

अंततः निष्कर्ष स्वरूप कहना चाहता हूँ कि यह सत्य है कि मानव को इस जगत में सुख और स्वाभिमान से जीने के लिए आर्थिक साधनों एवं भोग-सामग्री की आवश्यकता रहती है लेकिन संग्रह की भावना अनुचित है। यदि संग्रह पर अंकुश नहीं होगा तो हमारी तृष्णा बढ़ती ही जाती है तथा उन्हें सन्तुष्ट करना असंभव हो जाता है। असंतुष्टि का परिणाम दुखों और क्लेशों को बढ़ाना ही होता है। व्यक्तिगत दृष्टिकोण से जैन नैतिकता तो आवश्यकता से अधिक किसी भी प्रकार के संग्रह के विरुद्ध है। नैतिकता तो यहाँ तक कहती है कि शारीरिक जरूरत से ज्यादा अधिक खाना और आवश्यकता से अधिक वस्त्र रखना भी परिग्रह है। परिग्रह की भावना को परिमाणित करने की बात यह भी कही है कि अगर विशिष्ट सीमा से आगे संपत्ति का संग्रह हो तो हमें स्वेच्छा से दान कर देना चाहिए। इसीलिए श्रावक के षट्-आवश्यक के अंतर्गत दान को लिया है।

दान का उद्देश्य समाज में ऊँच-नीच कायम करना नहीं बल्कि जीवन रक्षा के लिए आवश्यक वस्तुओं का समवितरण होना चाहिए। दान केवल अर्थदान तक सीमित नहीं रहे बल्कि आहारदान, औषधिदान, ज्ञानदान तथा अभयदान इन रूपों में भी दान को जैन दृष्टिकोण से समझाया गया है। अतः अर्थ का सर्जन के साथ-साथ विसर्जन करके समाज को नया रूप दिया जा सकता है, क्योंकि यह सामाजिक पहलू से भी उचित है अर्थात् जब सभी लोगों के पास अपनी आवश्यकता के अनुसार होगा तो अमीर एवं गरीब का भेदभाव समाज में समाप्त हो जायेगा तथा सभी लोगों को आर्थिक न्याय और आर्थिक समानता की प्राप्ति होगी।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संदर्भ ग्रन्थ -

1. संस्कृत हिन्दी कोश-
   वामन शिवराम आप्टे, पृ. -581
2. वही, पृ. 59
3. सर्वार्थसिद्धि, पृ. 274
4. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, श्लोक-111
   या मूर्च्छा नामेय विज्ञातव्य: परिग्रहो ह्वोष: ।
   मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्त्व परिणाम: ॥
5. सूत्रकृतांग-(अमर सुखवोधिनी टीका) पृ. 21
   परि-समन्तात ममत्त्व बुद्धया द्रव्य भावरूपेण
   गृह्यते इति परिग्रह: ।
6. दशवैकालिक- 6/19-20
   जं पि वत्थं व पायं व कंवलं पाय पुंछणं
   तं पि संजय लज्जट्ठा धारंति परिहंरति य ॥
   न सो परिग्ग हो वुत्तो नाय पुत्तेण ताइणा ।
   मूच्छा परिग्गहो वुत्तो इस वुत्तं महेसिणा ॥
7. महाभारत- 4/72
   द्वे पढ़े बन्ध मोक्षाय निर्ममेति ममेतिच ।
   ममेति बध्यते जन्तु: निर्ममेति विमुच्यते ॥
8. भगवती आराधना, गा. 1112, पृ. 570
   मिच्छत्तवेदराग तहेव हासादिया च् छद्दोसा ।
   चत्तारि तह कसाया चउदस अब्भंतरा गंथा ।
9. वही, गाथा-1113
   बाहिरसंगा रेक्तं वत्थुं धण धण्ण कुप्य भंडाणि ।
   दुपयचउप्पय जाणाणि चेव सयणासणो य तहा ॥
10. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, श्लोक 115-118
11. सूयगडो- प्रथम स्कन्ध, 1, श्लोक-2
    चित्तमंतचित्त वा परिगिज्झ किसामवि ।
    अण्णं वा अणुजाणइ एवं दुक्ख णं मुच्चई ॥
12. समणसुत्त गाथा-141
13. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, श्लोक-112
14. उत्तराध्ययन सूत्र, 32/8
    दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
    मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा
    तष्ठा हया जस्स न होइ लोहो,
    लोहो हओ जस्स न किंचणाइ ॥
15. उत्तराध्ययन-8/16
16. दशवैकालिक-6/20
17. दशवैकालिक-8/37
18. भगवती आराधना, पृ. 577 गाभा-1127
19. समणसुत्तं, गाथा - 140
20. सर्वार्थसिद्धि, 7/29 पृष्ठ-285
21. मोक्षमार्ग प्रकाशक, तीसरा अधिकार- पृ. 70
22. ईशागस्योपनिषद्- श्लोक-1 टीका

वरिष्ठ-शोध अध्येता
प्राकृत एवं जैनागम विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूँ - 341 306 (राजस्थान)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ENGLISH SECTION

Editor : Dr Jagat Ram Bhattacharyya

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Ācārāṅga-Bhāṣyaṃ

by Ācārya Mahāprajña

Cauttham Ajjhayaṇaṃ Samattaṃ

CHAPTER - IV

Right View

SECTION -2

4.12 je āsavā te parissavā, je parissavā te āsavā, je aṇāsavā te aparissavā, je aparissavā te, aṇāsavā ee pae saṃbujjhamāṇe, loyaṃ ca āṇa abhisameccā puḍho paveiyaṃ.

What is influx is efflux, what is efflux is influx; what is non-influx is non-ifflux, what is non-efflux is non-influx. – The aspirant, comprehending this paradigm, should realize the world of living being in accordance with the discrete commandment of the Jina and should not indulge in what leads to influx.

Bhāṣyaṃ Sūtra 12

The mode of the self that attracts karma is the cause of influx, and the mode that is responsible for the dissociation of the karma is the cause of efflux. The opposite of influx is non-influx. The cause of influx is the cause of karmic bondage and that of efflux is the cause of karmic dissociation.

The cause of influx is that which makes the karma to flow in and that which flow out is the cause of efflux. According to this

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

etymology,[1] the cause of influx attracts karma and the cause of efflux expels the karma. Hence the following four paradigms can be deduced: 1] What is the cause of influx is the cause of efflux, what is the cause of efflux is the cause of influx. 2] What is the cause of influx is the cause of non-efflux, what is the cause of non-efflux is the cause of influx. 3] What is the cause of non-influx is the cause of efflux, what is the cause of efflux is the cause of not-influx. 4] What is the cause of non-influx is the cause of non-efflux, what is the cause of non-efflux is the cause of non-efflux.

In the Sūtra, the first and the forth paradigms are overtly mentioned, and the other two are implied.

The truth is that there is karmic bondage, and the karma that is bound lasts for a limited period. From this, the truth also follows that there is also the dissociation of karma. Where there is no karmic bondage, there is no karmic dissociation. This is but natural. In the rock-like state immediately before disembodied liberation, there is only the cause of efflux and not the cause of influx and bondage.

The programme that should be followed by a person who has enlightened himself in these principles and has penetrated into the distinct nature of the cause of influx and the cause of efflux will be described in the next Sūtra. Such person leads his life in accordance with the way prescribed in the commandment of the omniscient *Jina*.

The aforementioned paradigms are to be explained with reference to three factualities: (i) modification, functions and (ii) accumulation and dissipation of the karma.

(i) With reference to modification, there are as many causes of karmic dissociation for the enlightened one, as there are causes of karmic inflow for the unenlightened one.[2]

(ii) With reference to functions, the same activities that are conducive to karmic dissociation for the restrained one are for the karmic inflow for the unrestrained one.

(iii) With reference to accumulation and dissipation of karma, the paradigm namely, 'what is the cause of influx is the cause of efflux' is with reference to worldly bondage.

The paradigm 'what is the cause of influx is the cause of non-efflux' is a non-entity.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The paradigm 'what is the cause of non-influx is the cause of efflux' is with reference to the rock like state of soul.

The paradigm 'what is the cause of non-influx is the cause of non-efflux' is with reference to the emancipated soul.

In the Sūtra under consideration the secrets of the principles of karmic bondage and dissociation are implicated. The central ides is that an aspirant well. Posted in the secrets of the doctrine of karma abstains from violence or is established in the principle of ahiṃsā or attains the discriminating knowledge of self-development.

4.13 āghāi ṇāṇī iha māṇavāṇaṃ saṃsārapaḍivannāṇaṃ saṃbujjhamāṇāṇaṃ viṇṇāṇapattāṇaṃ.

The wise person explains the discipline to them who are involved in worldly life, also to them who are on the path of awakening, and also to them have achieved the power of discrimination.

Bhāṣyaṃ Sūtra 13

The wise person, having known the secrets of karmic bondage and dissociation, reveals the truth (religion) to the people who are involved in worldly life, that is engaged in worldly affairs; also to them who are on the path of enlightenment, are disgusted with suffering, are in search of joy and are eager to hear the discipline; and also to the disillusioned ones, that is, in whom the power of discrimination has not arisen.

4.14 aṭṭā vi saṃtā aduvā pamattā.

The afflicted and also the non-vigilant person accept the religion.

Bhāṣyaṃ Sūtra 14

Having cultivated acquaintance with violence as the cause of karmic bondage and non-violence as the cause of karmic dissociation, under the guidance of an enlightened person, even the person afflicted with anguish or non-vigilance undertake the practice of non-violence;[3] what to speak of the people who have developed detachment from sensual objects?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

The afflicted ones fall in two categories; physically afflicted and spiritually afflicted. The person afflicted with anguish may be a person in need of fortune or striken with ailments or miseries. Such people are physically afflicted. Some persons may also be stricken with violent emotions. The person afflicted with non-vigilance is one who is overpowered by sensual objects and intoxicating drinks, or excited with worldly pleasure. They are spiritually afflicted persons.

4.15 ahāsaccamiṇaṃ te bemi.

This is the ultimate truth - thus do I say :

Bhāṣyaṃ Sūtra 15

The truth is that the people are miserable and non-vigilant. It is also true that some people, though miserable exert themselves to get rid of their misery. Some people again, though non-vigilant, attain to the state of self-awareness on getting an occasion for such awakening.

The central idea of the Sūtra is that this change of the state of the soul is indeed an unimpeachable truth.

4.16 nāṇāgamo maccumuhassa atthi, icchāpaṇīyyā vaṃkāṇikeyā. kālaggahīā ṇicae ṇiviṭṭhā puḍho-puḍho jāiṃ pakappayaṃti.

Nothing is inaccessible to death. Some people are led by their desires, being the abode of crookedness. Intending to practise the discipline at a particular period of life, they remain engaged in accumulating fortune. Such people incessantly transmigrate from one form of life to another.

Bhāṣyaṃ Sūtra 16

Now the two supports to enlightenment are explained. One cannot run away from the expanded jaws of death, that can swallow of creature, or, death may come from many a direction.[4] All creatures are mortal, none is immortal. Comprehension of this truth is the first support or step to enlightenment.

'Desire' means activity in accordance with the sensual and mental objects. People are driven by such desires. 'Abode of crookedness'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

means shelter of deceitfulness. 'Intending the practise at a particular period'[2] means with the intention of adopting spiritual life at later periods of life – middle or the last part of life. 'Accumulating fortune' means engaged in hoarding money. Such people produce different forms of life, that is, they are born as different classes of beings such as the one-sensed and the like. Comprehension of this truth is the second support or step to enlightenment.

4.17 ihamegasiṃ tattha-tattha-saṃthavo bhavati. ahovavaie phāse paḍisaṃve-dayamti.

Various people are familiar with various doctrines (on account of their deluded views.) They suffer from various pains in the lower realms of transmigration.

Bhāṣyaṃ Sūtra 17

'Familiarity' means acquaintance, inclination or conjunction.[6] Some people have acquaintance with views that are contaminated by perversity, passions and sensual objects. On that account, they freely indulge in sinful conduct. And as a result they are born in various forms of life. During their trasmigration, they suffer from miseries of lower realms existence,[7] such as hells.

4.18 cittham kūrehiṃ kammehiṃ, cittham paricitthati. acittham kūrehiṃ kammehiṃ, ṇo cittham paricitthati.

Indulgence in intensely cruel acts leads one to the realm of intensely painful suffering. On the contrary, one who desists from intensely cruel acts does not transmigrate to realms of intensely painful suffering.

Bhāṣyaṃ Sūtra 18

The discipline asks: 'O Lord! are the souls, suffering from the miseries of the lower worlds, of the same kind of feelings?' (Reply) 'No, this is not so' 'Why?' (Reply) 'Because the person who indulges in cruel acts is born in inauspicious places like hell and is striken with immeasurable pain.[8] But the person who is not so deeply involved in cruel acts is inflicted with only light pain though born in the inauspicious place like hell'.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Here the fruition of intense involvement and mild one are differentiated. The same holds true of the auspicious karma.

4.19 *ege vayaṃti aduvā vi ṇāṇī ?*
ṇāṇī vayaṃti aduvā vi ege?

Is this (doctrine) averred by other (heretic) philosophers or by those who have attained knowledge? (Or) Is this averred by those who have attained knowledge or by other philosophers?

Bhāṣyaṃ Sūtra 19

In the preceding Sūtra (4.18), the fruition of indulging in violence was explained. The present sūtra gives expression to the curiosity regarding the issue whether this (doctrine expressed in 4.18) is agreed to by all philosophers or not. (The question arises whether) others (heretic philosophers) declare the aforesaid fruition of indulging in violence or the teachers endowed with knowledge. The answer to this query is obtained in the sūtras (20-26) that follows.

'Other' means some of the other philosophers or heretics.

'Those endowed with knowledge' means the teachers who have attained the right world-view.

The aphorism is constructed in the circular style, so that the question is put also vice versa.

4.20 *āvaṃtī keāvaṃtī loyaṃsi samaṇā ya māhaṇā ya puḍho vivādaṃ vadaṃti - se diṭṭhaṃ ca ṇe, suyaṃ ca ṇe, mayaṃ ca ṇe, viṇṇāyaṃ ca ṇe, uḍḍhaṃ ahaṃ tiriyaṃ disāsu savvato supaḍilehiyaṃ ca ṇe - savve pāṇā savve bhūyā savve jīvā savve sattā haṃtavvā, ajjāveyavvā parighetavvā, pariyāveyavvā, uddave-yavvā. ettha vi jāṇaha ṇatthittha doso.*

Some *Śramaṇas* and *Brāhmaṇas* put forth mutually contradictory doctrines in the field (of philosophy). Some of them contend: "The following doctrine has been perceived, heard, reflected upon, thoroughly comprehended and scrutinized in all directions – upwards, downwards and lateral : 'All animals, living beings, organisms and sentient creatures may be injured,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

governed, enslaved, tortured and killed'. Know that there is no sin in committing violence.''

Bhāṣyaṃ Sūtra 20

Some *Śramaṇas* and *Brāhmaṇas* mutually contend èāWe have perceived, heard, reflected upon, thoroughly comprehended, scrutinised in all directions that there is no sin in committing violence of the living beings.

One wonders whether there are Śramaṇas and Brāhamaṇas who approve of such kind of violence. One suld not forget that in the age of Lord Mahāvīra, the principle of non-violence was not held in that great respect which it commands today. In those days, sacrificial violence was considered a religious act. Violence was approved for acquiring non-vegetarian food. In the present Sūtra, the opinion of the learned people who supported such violence in those days has found record.

4.21 aṇāriyavayaṇameyaṃ.

This is the view of the ignoble.

Bhāṣyaṃ Sūtra 21

To the aforesaid opinion of the opponent, the Sūtra says that this is the doctrine of the ignoble person, as it professes violence to living beings.

In earlier ancient times, the world *ārya* (noble) and *anārya* (ignoble) were used for ethinically different groups of people. In the time of Lord Mahāvīra, these words acquired technical meaning. *Ārya* stood for the ethically superior people and *anārya* for the ethically inferior ones. In the *Sūṭrakṛtāṅga*, there is a mention of *āryamārga* (the path followed by the *ārya* (1.3.66). The word *ārya-satry* (noble truth) in Buddhism is well known. In the present context *anārya* appears to stand for one who does not believe in the discipline of ahiṃsā, the antidote of this is *ārya* who believes in such discipline.

4.22 tattha je te āriyā, te evaṃ vayāsī - se duddiṭṭhaṃ ca bhe, dussuyaṃ ca bhe, dummayaṃ ca bhe, duvviṇṇāyaṃ ca bhe, uḍḍhaṃ ahaṃ tiriyaṃ disāsu savvato duppadilohiyaṃ ca bhe, jaṇṇaṃ tubbhe

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

evamāikkhaha, evaṃbhāsaha, evaṃ parūveha, evaṃ paṇṇaveha - savve pāṇā savve bhūyā savve jīvā savve sattā haṃtavvā, ajjāveyavvā, parighetavvā, pariyāveyavvā, uddhaveyavvā. ettha vi jāṇaha ṇatthittha doso.

Those who were *āryas* proclaimed thus: "you have wrongly realized, wrongly heard of, wrongly thought about, wrongly known and wrongly considered in all respects and all directions, aboe, below and in front, when you say, speak, explain and propound that 'all animates, living beings, souls and living entities should be injured, commanded, enslaved, tortured and killed; you should know that there is no blemish in such actions of violence'."

Bhāṣyaṃ Sūtra 22

On this subject, the noble ones declare: 'what you say has been wrongly realized by you'.

4.23 *vayaṃ puṇa evamāikkhāmo, evaṃ bhāsāmo, evaṃ parūvemo, evaṃ paṇṇavemo - "savve pāṇā savve bhūyā savve jīvā savve sattā ṇa haṃtavvā, ṇa ajjāveyavvā, ṇa parighetavvā, ṇa pariyāveyavvā, ṇa uddaveyavvā. ettha vi jāṇaha ṇatthittha doso.*

We do however say, speak, explain and propound that 'no animates, living beings, souls and living entities should be enjured, commanded, enslaved, tortured and killd; you should know that there is no blemish in such actions (of non-violence)'."

Bhāṣyaṃ Sūtra 23

The *āryas* say : "We however declare that no creature should be killed or tortured."

4.24 *āriyavayaṇameyaṃ.*

This is the view of the noble.

Bhāṣyaṃ Sūtra 24

The Sūtra says that this is the noble ones' doctrine that enjoins the principle of non-violence.[9]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

4.25 *puvvaṃ nikāya samayaṃ patteyaṃ pucchissāmo - hambho pāvāduyā! kiṃ bhe sāyaṃ dukkhaṃ udāhu asāyaṃ?*

The heretical teachers sticking to their own respective doctrines we should address, 'O teachers! is paid pleasant or unpleasant to you?'

4.26 *samiyā paḍivaṇṇe yāvi evaṃ būya - savvesiṃ pāṇāṇaṃ savvesiṃ bhūyāṇaṃ savvesiṃ jīvāṇaṃ savvesiṃ sattāṇaṃ asāyaṃ apariṇivvāṇaṃ mahabbhayaṃ dukkhaṃ. - tti bemi.*

To those who are rightly disposed towards the truth, one should say - 'to all animates, living beings, souls and living entities pain is unpleasant, disagreeable and most dreadful'.

Bhāṣyaṃ Sūtra 25, 26

If the unwise persons do not properly understand the principle of non-violence even though adequately explained, one should feel indifferent. One should engage in debate with the council of knowledgeable people in the following order. First of all the opponents should be asked to make the solemn vow to speak the truth or they should be asked to acknowledge their own doctrines. And thereafter the question should be raised: 'O heretics! is pain pleasant[10] to you or not?[11] Being thus asked, if they reply that pain was pleasant to them then such doctrine should be repudiated by the evidence of perceptual experience, verdict of the scripture and popular feeling against it. But if they confess that pain was not pleasant to them then the monk should address such people who have been brought to the right way of thinking in the above manner, as follows: 'the pain is not only not liked by you, but it is not liked by all animates, living beings, souls and living entities; the pain is unpleasant, disagreeable and most dreadful.'

'Disagreeable' means repugnant to peace.

The doctrine thus follows that no living being should be injured.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Reference :

1. Ācārāṅga Vṛtti, patra 165: yadi vā ásravantītyāsravāh, pacādyac, evaṃ parisravantīti parisravāḥ.

2. Ācārāṅga Cūrṇī, p. 138 : jaṃ bhaṇitaṃ - jattiyāiṃ asaṃjamaṭṭhā ṇāiṃ tattiyāiṃ saṃjamaṭṭhāṇāiṃ, bhaṇiyaṃ ca -

   yathā prakārā yāvantaḥ, saṃsārāveśahetavaḥ.
   tāvantastadviparyāsāḥ, nirvāṇasukhahetavaḥ..

3. (a) The alternative translation on the basis of Cūrṇi will be : Those who do not abide by the religion are either miserable or infatuated.

   Ācārāṅga Cūrṇī, p. 139 : paḍivajjaṃtitti vakkasesaṃ .... ahavā taṃ evaṃ akkhātaṃ dhammaṃ apadivajjamāṇā aṭṭā rāgadosehiṃ pamattā visaehi aṇṇautthiyagihatthā pāsatthādao vā saṃsārameva visaṃti.

   Or it may be translated as : Neither the miserable nor the infatuated one abide by religion.

   (b) See - Gītā 7.16 :

   caturvidhā bhajante māṃ, janāḥ sukṛtino'rjuna.
   ārto jijñāsurarthārthī jñānī ca bharatarṣabha!...

4. 'nānāgamo' padam 'nānāgamo', na anāgamo - iti dvābhyāṃ prakārabhayāṃ vyākhyātaṃ śakyaḥ. Cūrṇau (p. 140) 'nāṇāgamo' mṛtyumukhasya, Vṛttau (patra 166) na hi anāgamo mṛtyormukhasya iti.

5. Ācārāṅga Vṛtti, patra 166: kālagṛhītāḥ, āhitāgnidarśanādārṣatvād vā niṣṭhātasya paranipātaḥ

6. Ācārāṅga Cūrni, p. 141 : iha saṃsāre saṃthuti saṃthavo, appasattho neraio neraiyatteṇa samthuvati ṇāma niddisijjati evamādi, pasatthaṃ tu devo devatteṇa, ahavā samāgamo samthavo.

7. (a) ibid, p. 141 : adha iti aṇaṃtare, aha te sakammaniddiṭṭhaṃ aṇṇataraṃ gatiṃ gayā, uvavāte jātā uvavāiya phusaṃti.

   (b) Ācārāṅga Vṛtti, patra 167: adhaaupapātikān narakādibhavān 'parśān' duḥkhānubhavān prati-saṃvedayanti.

8. Ācārāṅga Cūrni, p. 141 : ciṭṭhaṃti vā gāḍhaṃti vā egaṭṭha.

9. See Bhāṣyaṃ of 4.21.

10. anayormūlamasti sātamasātaṃ ca. tatra sātaṃ piyaṃ assssaātaṃ appiyaṃ iti (Cūrni, p. 143)

11. sātam mana ālhādakāri, asātaṃ manaḥpratikūlaṃ iti (vṛtti, patra 169)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Specialized Functions and Therapeutic Applications of Prostaglandins

Dr J.P.N. Mishra and
Dr M.K. Singh

The prostaglandins (PG's) are a unique group of cyclic fatty acids with vast and potent biologic effects involving almost every organ system in a variety of species including the human.

Structural-Functional Relationships

Most commonly occurring prostaglandins are PGA_1, PGA_2, PGE_1, PGE_2, PGF_i and PGF_2. These compounds are all compassed of a 20-carbon carboxylic acid containing a cyclopentane ring, a hypothetical structure referred to as prostanoic acid. However, they contain various degrees of substitution and unsaturation in the ring as well as in the aliphatic side chains. Depending on the class of prostaglandin they may either relax vascular smooth muscle with consequent lowering of blood pressure or contract non-vascular smooth muscle, such as intestines and uterus or both. (Table 1)

Table 1

Functional relationships among the principal prostaglandin classes

Compound	Effect on Blood Pressure	Non-vascular smooth muscle stimulating activity
PGA	Decrease	Inactive
PGE	Decrease	Very active
PGF	Transient increase	Very active

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Table 2

Differences between PGA and PGE

Effect	PGA	PGE
Mechanism of hypotensive effect	Indirect peripheral arteriolar dilation	Direct peripheral arteriolar dilation
Metabolism by lung	Minor degree	Major degree
Renal oxidative metabolism and Na-K ATPase	Marked decrease	No effect
Effect on non-vascular smooth muscle	None	Contraction

BIOSYNTHESIS AND METABOLISM

Prostaglandin Formation

The immediate precursors of prostaglandin synthesis are essential unsaturated fatty acids. It is now believed that they are needed in the diet because they play a pivotal role in being converted to prostaglandins (1, 2). The precursor for PGE_1 and PGF_1 is 8, 11, 14-eicosatrienoic acid (dihomo-linolenic acid), and that for PGE_2 and PGF_3 is 5, 8, 11, 14-eicosatetraenoic acid (arachidonic acid). It has also been shown that PGE_3 and PGF_3 can be formed from 5, 8, 11, 14, 17-eicosapentaenoic acid. The transformation of unsaturated fatty acids to prostaglandins is catalyzed by PG synthetase, an enzyme specifically inhibited by essential fatty acid analogues and a number of anti-inflammatory agents, including indomethacin and aspirin. In the case of PGE_1 and PGF_1, the mechanism of biosynthesis involves, (1) reduction of two of the double bonds in the fatty acid, (2) isomerization of the double bond with introduction of a molecular oxygen at C-9, 11, and 15 and (3) subsequent cyclization to the cyclic endoperoxide. The endoperoxide is then converted to either PGE_1, or PGF_1. The latter two compounds are not generally interconvertible, both being formed from the same endoperoxide precursor. A similar mechanism exists for the synthesis of PGE_2 from

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

arachidonic acid. The exact mechanism of PGA formation has not been studied intensively, but it is believed to be the result of chemical dehydration at C-10, 11 with introduction of a double bond at this site. There is little free unsaturated fatty acid inside cells, and it is believed that these precursors are stored as membranes phospholipids or as membrane sterol esters or both. There is evidence that the major rate-limiting enzymes in prostaglandin synthesis are not only PG synthesize but also cholesterol esterase and phospholipase A, which catalyze the hydrolysis of the unsaturated fatty acids from cholesterol and phospholipids respectively.

BIOLOGIC ACTIONS

The biologic actions of the prostaglandins are the most varied of any naturally occurring compound. The nonvascular actions of the prostaglandins are closely linked to changes in 3', 5'-cyclic AMP (C-AMP). In this regard, it is important to note that unlike other hormones affecting C-AMP, the same prostaglandin can in some tissues increase and in others decreases adenyl cyclase and C-AMP. A role for prostaglandin interaction with C-AMP in the cardiovascular system has yet to be established.

CARDIOVASCULAR-RENAL SYSTEM

Antihypertensive Renal Function

A growing body of evidence suggests that the kidney, in addition to secreting the well-known renal pressor hormones, such as those of the renal rennin-angiotensin system, also has an antihypertensive endocrine function. It is thought that the state of hypertension may be the result of a deficiency of renal vasodepressor substances which allow pressor mechanisms to act unopposed in bringing about peripheral arteriolar constriction and an ensuing rise in blood pressure. The isolation from the rabbit renal medulla of the vasodilating prostaglandin, medullin (subsequently renamed PGA_2), provided the first demonstration that the kidney possessed a specific antihypertensive compound (3, 4). The vasodepressor prostaglandin PGE_2, was also located and identified in rabbit renal medulla. However, its effects on nonvascular smooth muscle, its rapid metabolism by the lung, and its different metabolic and hypotensive mechanisms seem to exclude PGE_2 as a circulating antihypertensive hormone.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Table 3
Intravenous Cardiovascular Effects of PGA and PGE in the Normatensive Dog

Components	PGA and PGE
Blood pressure	Lowered
Peripheral arterioles	Dilated
Total peripheral resistances	Lowered
Heart rate	Reflex increase
Myocardial contractility	Unchanged
Regional blood flow given IA	Increased
Sodium and potassium excretion	Increased
Urine flow	Increased
Plasma volume	Decreased

Blood Pressure-Lowering Effects in Normotensive Animals

A sustained intravenous infusion of PGA, or PGA_2 results in an initial fall in blood pressure (the result of peripheral arteriolar dilatation), leading to a fall in total peripheral resistance and a reflex bar receptor-mediated acceleration in heart rate. Evidence has accumulated that the splanchnic vascular bed largely mediates the hypotensive action of PGA. Thus intra-arterial administration of PGA or PGE compounds to normatensive animals results in an increase in regional blood flow in the carotid, coronary, cutaneous, splanchnic, femoral, brachial, and renal systems. However, only intra-arterial administration into the splanchic bed results in a concomitant fall in blood pressure. This suggests that hypotension induced by PGA or PGE is largely the result of splanchnic arteriolar dilatation. Support for this hypothesis is provided by the observation that, upon intravenous administration of PGA to dogs, the fall in blood pressure is accompanied by a simultaneous rise in splanchnic blood flow and an unchanged or decreased flow to most other vascular beds. Within 10 to 15 minutes, blood pressure returns to the pre injection level despite continued PGA administration.

This is a reflection of adaptive pressor mechanisms being elicited to offset the unphysiologically low blood pressure fall induced by prostaglandin.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Similar observations have been made in normotensive humans after intravenous PGA administration. PGA has little positive or negative chronotropic or inotropic effect on the isolated perfused heart, indicating that its hypotensive effects are peripherally mediated. During PGA_1 or PGA_2 administration, there is a redistribution of renal blood flow from medulla to cortex, with an associated rise in total blood flow, natriuresis, kaliuresis, and diuresis, leading to a reduction in plasma volume. However, the natriuresis with PGA's may be due not only to changes in blood flow but also to metabolic inhibition of NA-K ATPase (Table 3), which results in a decrease in active sodium reabsorption.

Antihypertensive Effects in Hypertensive Humans

The first prostaglandin administered to a hypertensive human being was PGA_2, isolated from the kidney as medullin (3). Blood pressure fell from hypertensive to normotensive levels as a result of peripheral arteriolar dilatation, and there was a reflex increase in heart rate and cardiac output. In a series of 20 hypertensive patients, PGA_1 produced similar effects (5, 6). Its administration to the human being differed most notably from its administration to normotensive animals in that the lowering of blood pressure from hypertensive to normotensive levels in the human being is not transitory but lasts as long as the compound is infused.

Reproductive System

Prostaglandins of the E and F (but not A) classes have marked effects on the reproductive system of nonprimates and primates, including the human. Their main actions are (1) to stimulate gravid uterine muscle to contract, (2) to produce luteolysis and decreased progesterone secretion, and (3) to act at the pituitary-hypothalamic levels as mediators of luteinizing hormone releasing factor (LRF)on luteinizing hormones (LH) secretion. Most of these actions involve stimulation of adneyl cyclase activity, leading to a rise in intracellular C-AMP.

Abortion

The most immediate clinical application of prostaglandins appears to be in mid-trimester abortion by intra-amniotic injection. Suction curettage still remains preferable to prostaglandin administration during the first trimester. Although prostaglandins have been suggested as effective

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

"hindsight" oral contraceptive agents, little confirmation evidence has yet been forthcoming (7).

Induction of Labor

Of immediate physiologic interest is the fact that PGF_2 is present in amniotic fluid, and its concentration rises in the blood of women in labor, suggesting that endogenous PGF_2 may be an important factor in the normal induction of labor. In addition, its presence in menstrual fluid, together with its activity in constricting gastrointestinal smooth muscle, suggests a role for PGF_2 in the production of the pain of dysmenorrhea by causing gastrointestinal or uterine contractions or both (8).

THE INFLAMMATORY RESPONSE

Local Inflammation

The inflammatory response is characterized by increased vascular permeability and vasodilatation with a subsequent migration of leukocytes leading to the classical signs of redness, heat, pain, and swelling. The induction of the response is multifold and includes burns, trauma, carrageenin administration, infection, and inflammatory diseases of unknown etiology such as rheumatoid arthritis. Bradykinin, serotonin, and histamine released into inflammatory areas by leukocytes have all been proposed as mediators of the response, but the specific agents involved and their interrelationships and mechanisms remain obscure. Recent evidence has accumulated that prostaglandins may be important mediators of inflammation.

Systemic Inflammation

Common systemic manifestations of inflammation are headache and fever, which are classically alleviated by such anti-inflammatory analgesic, antipyretic agents as aspirin, indomethacin, phenylbutazone, and aminopyrine, all compounds which markedly inhibit prostaglandin synthetase. There is strong evidence that the headache and fever are prostaglandin-mediated (9).

THE IMMUNE RESPONSE

Bronchial Asthma

Although the cause and mechanisms of human bronchial asthma are unknown, certain important facts are well established. In general, beta

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

adrenergic stimulating agents such as isoproterenol result in bronchodilatation associated with a rise in intracellular C-AMP, whereas beta blocking agents or cholinergic stimulation leads to broncho-constriction associated with a fall in intracellular C-AMP. There is increased evidence that asthma is a systemic disorder associated with partial beta adrenergic blockade since (1) asthmatic patients exhibit a reduced generalized metabolic response to epinephrine, (2) the peripheral lymphocytes show a decreased antigenic inactivation by cate-cholamines, and (3) there is a reduction in the rise of lymphocytic C-AMP in response to isoproterenol in blood from asthmatics as compared with controls (10).

The possibility of involvement of prostaglandins in asthma stems from the observation that PGE_1 and PGE_2 relax human bronchiolar smooth muscle in vitro, while PGF_2 contracts these muscles and inhibits the bronchodilating effect of isoproterenol.

Arthritis

Intradermal injection of complete Freund's adjuvant produces a serve polyarthritis which is prevented or inhibited by subcutaneous administration of PGE_1 and PGE_2, but not by PGA or PGF, compounds (11). It has been suggested that one mechanism by which PGE_2 might alleviate experimental arthritis is immunologic, involving inhibition of sensitized lymphocytic migration into the affected joints by increasing lymphocytic C-AMP. Drugs that increase the latter compound have been shown to decrease lymphocyte-mediated cytolysis of target cells (11). Paradoxically PGE_1, and PGE_2 in smaller doses appear to produce experimental arthritis and are capable of evoking such signs of inflammation as pain, swelling, heat, and redness. At present, the role of PGE's in inflammation in both experimental and human rheumatoid arthritis is unknown.

Immediate Hypersensitivity

One model of immediate hypersensitivity is antigen-induced histamine release from lgE antibody-sensitized basophils and from the lung, a reaction which is inhibited by catecholamines and C-AMP, PGE_1 and PGE_2 but not by PGF_1. The effect of catecholamines is on beta adrenergic receptors, since their inhibition of histamine release can be blocked by propranolol, whereas no such inhibition occurs with PGE_1 (11). In addition, catecholamine inhibition of histamine release is associated with a rise in leukocyte C-AMP

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

with prostaglandins is not so inhibited. PGE and PGE_2 are the most potent of all the prostaglandins, while the PGA and PGF classes are almost inactive. The evidence at present suggests that PGE compounds increase C-AMP, leading to decreased histamine release using a receptor other than that used by catecholamines.

GASTROINTESTINAL SYSTEM

Intestinal Secretion

Intravenous administration of PGE_2 and PGA_2 to animals or humans or both inhibits the stimulation of gastric hydrochloric acid (HCL) secretion by histamine, pentagastrin, and food ingestion (12). Furthermore, in the rat, PGE_1 reduces the incidence of experimental ulcer formation resulting from pyloric ligation, a finding which has led to speculation that hypersecretion of gastric HCl causing Zollinger-Ellison syndrome and peptic ulcer may be due to a deficiency of prostaglandins normally located in all released from the stomach. Since C-AMP reduces gastric HCl secretion, it has been postulated that the mechanism of prostaglandin inhibition may be through activation of adenyl cyclase. Alternatively, a reduction in gastric mucosal blood flow could be the underlying mechanism.

Intestinal Motility

PGE and PGF compounds which are normally present in the gastrointestinal tract are released by various stimuli and produce rhythmic contraction of longitudinal smooth muscle in vitro and, in the human being, in vivo. They appear to inhibit intestinal motility in the dog in vivo. It is believed that prostaglandins act directly on smooth muscle since the effects are only partially blocked by atropine. The role of prostaglandins in normal peristalsis remains to be clarified (12).

METABOLIC AND ENDOCRINE SYSTEMS

Adipose Tissue

The lipolytic effect of glucagons, ACTH, and epinephrine is inhibited by PGE_1 in vitro (3, 11). The lipolytic agents act by increasing fat-cell adenyl cyclase activity with a subsequent enhanced conversion of ATP to C-AMP. Theophylline, by inhibiting phosphodiesterase activity, also increases C-AMP and lipolysis. PGE_1 is antilipolytic; however, it does not inhibit the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

lipolytic activity of C-AMP, suggesting that the mechanism of antilipolytic activity of PGE_1 is through adenyl cyclase inhibition. The effects of experiment in vivo are conflicting, with reports of both lipolytic and antilipolytic effects of PGE_1 in dogs and in humans.

Adrenals

PGE_2 accelerates corticosterone production as does ACTH (5). Since C-AMP also activates steroidogenesis, it has been suggested that PGE_2 activates adenyl cyclase in the adrenals, a situation analogous to that in the thyroid.

MECHANISMS OF ACTION

Metabolic

The tropic hormone interacts with a membrance receptor, which leads to an increase in prostaglandin synthetase and prostaglandin production. The prostaglandins in turn activate membrane adenyl cyclase, possibly through a specific prostaglandin receptor. The resultant increase in C-AMP generated from ATP then produces its action on cell function. Prostaglandins would act as a second messenger and C-AMP as a third messenger. The most puzzling aspect, however, is the remarkable nonspecificity of prostaglandin action, augmenting C-AMP accumulation in some systems and inhibiting it in others. Unlike other stimulators of adenyl cyclase, whose action is restricted to a particular target cell (parathyroid hormone increase C-AMP in kidney and bone but not in other tissues), prostaglandins have effects on almost every cell line with the notable exception of vascular smooth muscle. Specificity, therefore, must reside and be inherent in each cell line in a manner yet to be demonstrated (13).

Na-K ATPase

The demonstration that PGA (but not PGE) inhibits Na-K ATPase in renal cortex and medulla in vitro (Table 2) has raised speculation that this enzyme may also be an important prostaglandin target. The inhibition is associated with a reduction in oxygen consumption and glucose oxidation. Since energy production in the kidney is largely confined to active sodium transport, it is likely that the natriuresis mediated by PGA may be the result of a decrease in ATP available for sodium reabsorption secondary to an inhibition of Na-K ATPase-linked active transport. That such a mechanism

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

might also underlie the vasodilatory effects of PGA, is suggested by the fact that inhibition of vascular smooth muscle contraction by PGA_1 is abolished by ouabain, a relatively specific inhibitor of Na-K ATPase (13, 14).

Blood Pressure Regulation

Behavioural hypertensive stimuli, such a intellectual activity, fright, and anxiety, cause elevation in blood pressure associated with internal cortical vasoconstriction so that renocortical blood flow remains unchanged (the so-called autoregulation of the kidney). However, blood flow to the renal medulla is not believed to be autoregulated to this degree. With each elevation in arterial blood pressure, there is a corresponding rise in medullary blood flow, which might signal the release of PGA_2 or PGE_2 or both by the renomedullary interstitial cells. This might lead to internal circulation of PGA_2 or PGE_2 or both from renal medulla to cortex and subsequently produce cortical vasodilatation. In this fashion, relief of the internal cortical vasoconstriction occasioned by the original hypertensive stimulus would take place. The enhanced cortical blood flow would lead to (1) natriuresis and decreased plasma volume, and (2) external arteriolar dilatation due either to prostaglandin or to unknown vasoactive compounds. These effects would all result in a decrease in arterial blood pressure.

Since PGA_2 and PGE_2 decrease outer medullary flow and increase cortical flow, a deficiency of such prostaglandins would be expected to result in decreased renal cortical flow, an observation repeatedly demonstrated in patients with essential hypertension. Thus systemic hypertension resulting from activation of renal pressor systems might result from cortical ischemia induced by such reduction in cortical blood flow.

THERAPEUTIC IMPLICATIONS

Although only preliminary human trails with prostaglandins have been undertaken, they hold promise as one of the most revolutionary therapeutic substances ever discovered. It is unlikely that the PGE and PGF classes can ultimately be given intravenously because of their side effects, particularly with regard to their gastrointestinal effects. If, as it is postulated, they normally act as local regulators (hormones by definition circulate), new delivery routes will have to be devised to produce a specific therapeutic response in one organ (such as a PGE aerosol for bronchial asthma) which would not result

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

in an undesirable effect in a different organ (such as the effect of PGE in stimulating contraction of the uterus). The synthesis of a number of prostaglandin analogues with more specific actions offers an alternative in obviating their nonspecific effects (14). (Table 4)

Table 4

Potential Therapeutic Applications of the Prostaglandins

Hypertension
Bronchial asthma
Anaphylactic shock
Edema
Induction of labor
Induction of abortion
Gastric hyperacidity and peptic ulceration
Coronary and deep venous thrombosis
Nasal congestion
Infertility
Cholera and Zollinger - Ellison syndrome (prostaglandrin antagonist)
Glaucoma
Burns

In contrast to PGE's and PGFs, PGA's can be given intravenously to produce antihypertensive effect since they do not stimulate nonvascular smooth muscle contraction. It is also possible that they may be effective orally and that their action is prolonged by production of analogues that are metabolized at a slower rate. The difference between prostaglandins and most other pharmaceuticals is that the former are naturally occurring, and their administration may constitute specific replacement therapy (such as the use of oral or parenteral PGA_2 in human beings with essential hypertension, whose disorder may be a genetic or acquired deficiency of PGA_2)(14).

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

References

1. Beerthuis, R.K., Nugteren D.H., et. al: The biosynthesis of prostaglandins. ***Biochim. Biophys. Acta*** 90:204, 1964.
2. Bergstrom, S., Danielsson, H., et. al: The enzymatic formation of prostaglandin E2 from arachidonic acid. ***Biochim. Biophys. Acta*** 90:207, 1964.
3. Butcher, , R.W., Pike, J.E., et. al: The effect of prostagladndin E_1. on adenosine 3,5, monophosphate levels in adipose tissue, ***In Nobel Symposium II, Prostaglandins***. Bergstrom. S. and Samuelsson, B. (eds.), Stockholm, Almqvist and Wiksell, 1967, p. 133.
4. Field, J., Dekker, A., et. al: In vitro effects of prostaglandins on thyroid gland metabolism. ***Ann. N.Y. Acad Sci.,*** 180:278, 1971.
5. Flack, J.D., Jessup, R. et. al: Prostaglandin stimulatin of rat corticosteroidogensis. Science (New York), 163:691, 1969.
6. Henney, C.S., and Lichtenstein, L.M.: The role of cyclic AMP in the cytolytic activity of lymphocytes. ***J. Immun.*** 107:610, 1971.
7. Lee, J.B.: Chemical and physiological properties of renal prostaglandins with emphasis on the cardiovascular effects of medullin in essential human hypertension. In ***Nobel Symposium II, Prostaglandins***. Bergstrom, S., and Samuelsson, B. (eds), Almqvist and Wiksell, Stockholm, 1967, p. 197.
8. Lee, J. B., Covin, B. G. et. al: Renomedullary vasodepressor substance, medullin: Isolation, chemical characterization and physiological properties. ***Circ. Res.,*** 7:57, 1965.
9. Lee, J.B., Kannegiesser, H. et. al: Hypertension and the renomedullary prostaglandins: A human study of the antihypertensive effects of PGA. ***Ann N.Y. Acad. Sci.*** 180:218, 1971.
10. Lee, J.B., McGiff, J. C., et al.: Antihypertensive renal effects of prostaglandin A in patients with essential hypertension. ***Ann. Intern. Med.*** 74:703, 1971.
11. Steinberg, D., Baughan, M., et. al: Effects of prostaglandin E opposing those of catecholamines on blood pressure and on triglyceride breakdown in adipose tissue. ***Biochem. Pharmacol.*** 12:764, 1963.
12. Wilson, D. E., Cosmos, P., et al: Inhibition of gastric secretion in man by prostaglandin A_1. ***Gastroenterology*** 61:201, 1971.
13. Zurier, R.B., and Weissmann, G.: Effect of prostaglandins upon enzyme release from lysosomes and experimental arthritis. In ***Prostaglandins in Cellular Biology***. Ramwell, P.W. and Pharriss, B.B. (eds.), New York, Plenum Press 1972, p. 151.
14. Lee, J.B.: The Prostaglandins, In ***Textbook of Endocrinology***. Williams, R.H. (ed.) W.B. Saunder's Company, Philaldelphia, Pa, 1974, p. 854.

Associate Professor and Head
Dept. of SOL, PM and Yoga
JVBI, Ladnun - 341 306 (Raj.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Jain Business Ethics and Environmental Protection

Samani Shashi Prajna

The protection of environment is a global issue and it is not an isolated problem of any area or nation, it concerns all countries irrespective of their size, and level of development. In this scientific age of materialistic culture, fast technological development and Industrial growth, the protection of environment is really a great problem. Even in antiquity, Jain thinkers discussed at length how one could protect the environment and save oneself, the society, nations and all creatures. In the "*Upāsakadasā*" a jain cononical text in which Lord Mahavira quoted the remarkable lines for the protection of the environment. Lord Mahavira was a great psychiatrist. As soon as he achieved omniscient knowledge he automatically began to study the human psychology and accordingly prescribed two levels of code of conduct on the basis of followance of one's capacity. One for the houseless monks & the other for the householders. From that householders code of conduct emanate many principles of economic system, ecological theories and the concept of Jain Business ethics.

Business ethics is one of the most important, yet perhaps the most misunderstood, concern in the world of business today. The field of business ethics deals with questions about the acceptance of specific types of business practices. By its very nature, the field of business ethics is controversial, and there is no universally accepted approach for resolving its questions. It is incorrect to say that ethics, and religion are only concerned with individual personal lives. Lord Mahavira said good of the individual is inherent in the good of societyä The twelve small vows prescribed for the householders can help in the environmental protection, economic equality and social harmony.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

This paper deals with the three vratas propounded by Lord Mahavira, *Icchā Parimāṇa vrata, Ahimsā Vrata* and *Bhogopabhoga Parimāṇ* Vrata, These three vratas are so interrelated with each other that we cannot explain Jain business ethics by negating any one of the these three Vratās. Lord Mahavira restricted 15 such professions technically known as 15 *Karmādāna*[1] i.e. *Angāl karma, Vaṇa karma, Śākata karma* etc because such professions initiate tremendous violence. Jainism asserts, 'Non-violence as highest virtue'. Lord Mahavira discussed the vow of Non-violence very minutely. Lord Mahavira was a propounder of six classes of living beings i.e. immobile beings namely earth bodied, water bodied, air bodied, fire bodied, plant bodied beings, these five types of living beings are one sensed and mobile beings are two, three, four or five sensed beings, all these play an important role in the ecologically sustainable development of the world as a whole.

Modern scientific researches have shown that most of the fifteen professions involve environmental pollution and generate several diseases amongst human beings. It may be noted here the the main cause of huge voilence is human unending desires. Tīrthaṇkara Mahavira clearly preached that human desires must be restrained in the daily use of consumable and non-consumable goods. Accumulation of possessions for personal ends should be minimised. It is of capital importance to know that profession or business is not condemned by Jaina seers, what is condemed by them is exploitation, adulteration, mal-practices in business transactions. Tīrthaṇkara Mahavira was well aware of the fact that a householder cannot lead his wordly life without earning his livelohood and there is no profession which dosen't involve violence in one form or the other. So they were very practical in prohibiting only a few professions and not all. He cautioned the householders to refrain from 15 such professions as may cause violence as well as environmental pollution. Now let us see, the effect of fifteen restricted professions on ecological balance, and on human health.

1. *Angāra karma*: - (Livelihood from char-coal) For 'Haribhadra' this is the making, buying and selling of charcoal.[2] Besides charcoal-burning this includes all occupations involving the use of kilns in which the six forms of living organisms (*ṣajīva-nikāya*) may perish. Under this head come therefore the smelting of iron, the firing of pottery, the refining of gold or silver, the making of brickes and tiles, the construction of ovens for roasting chick-peas and other pulses, and in general any working in metals such as tin, copper, brass, bell-metal, or lead.[3] The electricity

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

is mainly generated by oil or coal, which nature took million years to produce. The entire world's modern civilization and development was based on energy inputs. The very important indicator of development of a country is based on the per capita consumption of energy. In modern times it plays a crucial role in providing food comfort and raising the quality of life. There are two types of coal i.e. hard coal and soft coal. Soft coal is prepared from wooden stock but hard coal is found beneath the earth, once finished cannot be renewed. Due to the reckless use of the non-replaceable, non-replenishable sources of power and energy by the industrialised nations for the last 200 years, we are seriously threatened with fuel shortage. In his book *'Engineering for the future'* Mr. J.A. Hutchinson, has predicted that according to most optimistic estimate, our fuel reserves will last for only 400 years with our present rate of growth.[4] So Lord Mahavira preached the householders to be cautious of the use of non-renewable resources which cause highly ecological imbalance. More over coal is such a dirty job, that it makes a whole area barren and scarred and leaves tons of ashes behind at the power station in the form of fly ash and residual waste. It is an environmental hazard of serious nature which causes the disease of pneumoconiosis[5] i.e. a serious illness affecting one or both lungs causing difficulty in breathing.

2. *Vaṇa karma* :-(livelihood from destroying plants) Jainism is a staunch supporter of life or consciousness in the plants as announced by Lord Mahavira. Cutting of forests not only causes violence to vegetable kingdom but entire ecological balance gets highly disturbed. Today, we see a new trend of furnishing a new building and which is becoming a prestige issue and causing heavy wooden damages. Due to artificial show of furnishing a house and ever increasing removal of forests have disturbed the stable climate that the world has enjoyed for the last 10,000 years. Forests provide shelter for wild life and fodder for animals, innumerable industrial raw materials and thousands of excellent medicines. Forests moderate the climate and invite rainfall. They regulate the underground water levels and provide panoromic beauty but human greed has no bounds. Several thousand rare plant and animal species from the world has already disappeared, others are on the extinction list. Due to deforestation for industrilization and urbanization, we are facing many threats. All the tangible and the intangible benefits of the forest e.g. cost of the oxegen produced and the green house gas carbon dioxide absorbed, cost of stabilisation of soil and protection of water sheds against flood and soil erosion etc.[6] Latest research shows that climate change due to

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

over cutting of trees will occur a background of increasing exposure to ultra-violet radiation consequent upon the temperature change due to climate change may have an impact on several major categories of disease, including cardio vascular, cerebro-vascular and respiratory diseases and skin cancer.[7] The entire ecological and enviornmental system is in crisis due to unnecessary cutting of forest trees.

3. *Śakata Karma:* - (Livelihood by driving all types of transport.)

4. *Bhātaka Karma* :-(Livelihood from transport fees. Hiring vehicles.)

Hemacandra defines as making a livelihood by carting goods in vehicles or on horses, oxen, buffaloes, camels, mules, or asses[8] this profession includes the construction and sale of carts to be drawn by animals and the driving of them, whether done by oneself or at one's instigation. The ban on such occupation would apply equally to the work of a wheelwright. Such trades are sinful as per Lord Mahavira because the crushing of living organisms by the animals hooves and under the wheels as they move. But Modern transport system and the automobiles run by āFossil fuelä dominated the scene or nature. The mineness tendency or attitude towards material objects is leading to the purchase of independent vehicle for each and every member of the family. According to the world watch institute report, there are over 500 million automobiles on earth and about 19 million more is added each year and by 2010 it is likely to be doubled.[9] The global vehicle population growth is causing major green house gas the toxic emissions caused by fossil fuel in the automobiles have been increasing alarmingly and threatening both human health and environment. The automobiles are over the world alone produces 60% of carbon monoxide emissions, 42% of nitrogen oxides and 40% of the hydro carbon, 13% of particulars and 3% of sulphur dioxide emissions. They also emit the green house gas carbon dioxide responsible for over half the global warming problem.[10] Measures to reduce carbon monoxide emissions will assist in controlling greenhouse warming on a global cale, emissions of these pollutants depends on the number of vehicles in use and their emissions rates Exposure to nitrogen dioxide emissions is linked to increased susceptibility to respiratory infection increased air way resistance in asthmatics and decreased pulmonary function.[11] āSome scientists believe that nitrogen oxide is a significant contributor to the dying forests throughout central Europe. The IPCC scientist conclude that in the absence of efforts to cut greenhouse gas

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

emissions sea levels will rise by between 10 and 30 cm by the year 2030, and by 30 to 100 cm by the end of the next century.[12] It is my clear notion that Lord Mahavira possesed far-sight in the restriction of Bhataka and shataka karma 2600 years ago itself and restricted the householders to refrain from such profession which not only causes environmental pollution but causes high violence.

5. *Phodi karma*: - (Livelihood from digging) for Haribhadra, this is the cultivation of the soil with a plough or digging stick.[13] Hemachandra understands it to include the excavating of artificial pools, tanks, and wells, the ploughing of fields, the quarring of rocks, and shaping of stone.[14] Lord Mahavira preached that earth should not be excavated. It causes not only injury to the earth bodied beings but to the vegetable boded beings and the mobile beings residing on it. Today's scientific research states that due to over exploitation of natural non-renewable resources ãThe protective ozone layerä or shield of the earth is depleting in the Arctic and Antaractic regions of the earth which is an impending danger to the civilization. At global level it could lead to 10,000 people going blind every year and 50 thousand extra cases of non-melanoma skin cancers.[15]

6. *Danta Vānijya*:- (Trade in animal by products) Hemachandra[16] explains that *danta* (ivory) is a *upalaksana* to indicate any animal by products such as tail-hairs of yaks, claws of owls, bones, horns, shells of conches etc. Devendra adds to this list the scent glands of musk deer.[17] As per *'Thāṇaṁ Sūtra'*, Lord Mahavira said, the one who violates five sensed beings for the trade of ivory, skins, bones horns etc. is bound to take birth in the hell. and will experience the same pain in the way he misbehaved with the innocent animals. According to one estimate every day nearly three species of life permanently disappear from earth.[18] Many animals are being killed in the process of cosematic tests merely for the beautification of human beings. Maneka Gandhi in her book *'Head and Tails'* clearly writes that when a lady gets ready to attend any party after make up wearing a silk sari and a jacket with fur lining carrying a fashionable crocodile leather beg can be called as walking grave-yard where each victim has been dragged and tortured before being killed. She further gives several data that over 1 Lakh rabbit eyes go into just the shampoo trade every year.[19] More over 20,000 silk moths are boiled alive to make just one kilo of silk. Every silk sari you wear has caused the death of at least 50,000 fellow creatures.[20] Likewise ivory bangles which are made by killing an elephant. Although ivory selling has been

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

stopped all over the world, but trade of ivory continus at global level inspite of the ban. Ivory collector can take the tusks of a dead elephant but he intentionally kills by various methods and declares it as dead because people want ivory made materials. None of the items listed above are essential. That's why maneka talks of 'Beauty without destruction'. That's why Lord Mahavira restricted not to get into this *Danta vāṇijya* which initiates terrible harm to the animal species and there by Jain concept of interdependence i.e. our very survival is basically dependent upon the survival of the immobile & mobile beings.

7. *Rasa Vāṇijya*:- (Trade in alcohol and forbidden food stuff like milk,curd, butter, meat etc.) From the Avasyaka curni it would seem that originally the reference here was to manufacture, sale, and consumption of alcohol, which is described as leading to brawling, squabbling and murder.[21] But for Hemacandra *rasa* in the sense of alcohol becomes an *upalaksana* to include honey, fat (obtained from meat), and butter, in other words the substances prohibited under the mula-guna category.[22] A curious question arises what is the reason behind the restriction of this trade. Intake of alcohol is forbidden under seven evil habits in Jainism as it demolishes the discretion of the human society. Although it is harmful for health but government is encouraging such profession as this produces heavy-income. But causes severe water and air pollution. Latest research declares that for the preservation of dairy products water exploitation is needed. Maneka Gandhi writes in her book '*Head and Tails*' that In India the milk and meat industries are responsible for huge amount of desertification. Each goat eats Rs. 60,000 Rupees of national property in the form at ground covering grass and young tree shoot.[23] By reading the first chapter "Milk, Meat and Animal violence" by Maneka, our notion regarding the dairy products and meat that it gives a lot of protein and iron completely changes. She says vegetables are the best source of iron. For instance 50 gallons of milk are the equivalent of one bowl of spinach.[24] Even Lord Mahavira, propounder of *Ṣadjīvanikāya* said that meat-eating is the one of the cause of taking birth in the hell infernal realm. Even in this birth, research declares that four lakh people in India die out of meat-eating every year through heart disease, colon cancer or by kidney failures.[25] For getting maximum milk at minimum cost oxytocin in an injection- a powerful drug is injected into the cow twcie a day by milkmen in the mistaken notion that it produces extra milk. Maneka says, this oxytocin affects not only the cows it filters into the milk. It is considered particularly harmful for the eyes in the

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

growing children. oxytocin affects the reproductive ability of women and girl children as well. What are some of the features of hormone imbalance? Breasts that sprout early, periods that come early or erratically hair in strange places on the face, weakened sight and hearing. All these occur from milk that contains oxytocin.[26] So Lord Mahavira restricted to indulge in such trade where animals are misbehaved with cruelty.

8. *Lakkha Vāṇijya* :- Trade in lac and similar substances sealing wax etc. for making a show pieces, bangles etc. lac is used. ãThe collection of red lack involves the destruction of endless numbers of tiny insects. More over this *Lakkha Vāṇijya*[27] causes injury to air and fire bodied beings and affects the health of the fellow who indulges in this profession. Today's research states lac is obtained from the trees, so over consumption or utilization of lac made materials, which bring about exploitation of forests.

9. *Viṣa Vāṇijya* :- Trade in raw- metals arsenic etc poisonous items as well as destructive articles like arms and armaments. This implies a ban on trade in poisons such as aconite, weapons such as swords, mechanical devices such as norias, iron, implements such as spades and ploughs, all of which are potentially dangerous to life.[28] Lord Mahavira prohibited the trade of supplying lethal weapons because Jainism asserts that the killer and the instrument given for killing, both are equally guilty. In this modern age, for maximum agriculture production, chemical fertilizers are used relentlessly which worked like a brown sugar and slow poisoning for our life supporting systems food, air, water etc. The nuclear weapons production and its wastages also cause heavy violence. As per research there is about 10,000 deaths every year in the developing countries due to pesticide poisoining.[29] even ground water has also been polluted by nitrates in many places and will work like a time bomb with passage of time. So no jain indulges in this Visha Vanijya at any cost.[30] A lot of hue and cry due to pollution caused by pesticides has been pervading among the residents living in the industrial areas. Scientific surveys and evidences throughout the globe have established the fact that the particles of pesticides, insecticides etc. sprayed or used over agricultural area, leave undissolved and harmful elements which are transferred to human and other living bodies through grains, vegetables, fruits, grasses etc. for variety of diseases ailments and harmful effects on health. 'The pesticide chemicals including toxic substances which cause allergies, damage vital organs of human body, like the eye, brain, liver, kidney, and reproductive organs, produce malformation in unborn

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

children and even generations to come and cause or promote cancer.[31] According to an WHO estimate about 7,50,000 people are poisoned by pesticides every year.[32]

10. *Keśa Vāṇijya* :- (Trade of animals like carmari cows, horses, elephants as well as wool etc.) This is explained as trade in creatures that have hair. This trade causes a huge amount of violence and cruel behaviour with the animals that possess hair. Animal hair is used in the manufacture of shaving brushes; hair brushes, boot-polish brushes, eye lines etc are made from specially playful squirrel and from the hog. Jacket with fur lining bags, caps etc are made by killing beautiful hair holder animals. Maneka writes in her book '*Head and Tails*' that 'for preparation of self curly kalakul hat from lamb hair, the mother, the ewe, is hit over a hundred times with an iron rod to induce premature birth. The lamb is then skinned alive in front of her eyes so that its fur remains soft and curly.[33] So Lord Mahavira possessed high level of intuition power in the restriction of violent professions for meeting the artificial needs of common man. In *Daśvaikālika sūtra*, Lord Mahavira preached, life is dear to all the creatures, nobody wants to die, so a man of complete restrain should never indulge in such violence.[34] For the householders Mahavira preached *anarthadaṇda vrata* i.e. unnecessary violence is restrained. So entire Jain community is aloof from such *keśa* and *viṣa vāṇijya* etc. which are severe pollutants.

11. *Yantra pīlana karma*: - This is deemed to be the operation of mills and presses for crushing sugarcane and expressing oil from sesamum seed, mustard seed and castor oil beans as well as the 'crushing' of water in norias. The destruction of life thereby provoked is so great that a popular saying (*Laukika*) affirms that an oil-press is as evil as ten slaughter houses.[35] Lord Mahavira preached the four reasons for taking birth in the hell. Among them the first reason is *'Mahaarambha'* i.e. huge (high violence) violence. Yantra pilana trade is cause of Mahaarambha as per Jaina karma theory. So Mahavira preached to refrain from such professions. Gandhiji also supported always small scale industries (*kutir udyog, charkhā, khadhi, svadeshi* etc) and was against the establishment of large scale industries because it results in the mass production of goods by few individuals, with unequal distribution and prosperity for few but poverty for the majority. Schumaker in his book - *"Small is beautiful"* supports the same idea of Gandhi. But the industrial revolution of the 18th century in Europe had a global impact and with the advancement in

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Science and Technology there was rapid industrialization all over the world leading to mechanized farmization, motorization and urbanization. The emergence of new technologies such as robotics, computers, automation, micro-electronics, lassers, information technology etc. are repaidly evolving developmental activities in the world. But on the other hand the toxic smoke releasing from various companies, industries Iron and Steel plant, Timber, glass, plastic, Paper mill and Coal based industries are worst polluters. In New Delhi due to over industrialization new industries are prohibited to establish and existing industries are warned for proper recycling of their industrial waste. In many industriatised countries, to smoke control laws are there otherwise smoke pollution is the major cause of ozone depletion.

12. *Nirlanchaṇa karma* : (Work involving mutilation) Haribhadra[36] understands by this the gelding of bulls and other animals. This profession is highly violent to change the sex for a mere profit. The main reason behind is bull, cow etc eunuch can bear heavy load and animals strength becomes double. Lord Mahavira restricted to indulge in this mutilation profession because it violates the rights of animals which possess equal consciousness as humans.

13. *Dāvāgni Dāna* : (Work involving the use of fire either to burn fields or meadows etc in order to make the land clean and setting fire to a forest.) Haribhadra interprets this on the basis of the Avasyaka churni as setting fire to the meadows as is the custom in uttarapath, so that later on, when the rains come the grass may grow lushly.[37] Due to over industrialization urbanization and population explosion the forests are being ignited . As per Lord Mahavira this trade causes *Mahaāramba* and leads to the destruction of animal kingdom and 5 one sensed beings. (earth, water, fire, air and plant). It should be clear that Mahavira's principles of 'Non-violence is the highest religious duty' (*Ahiṁsā Parmo Dharmaḥ*) and mutual support toward all living creatures (*Parasparopagraho Jivāṇāṁ*) are conducive to the enviornmental preservation. Latest research declares population pressure are often supposed to be the prime factor behind deforestation or *Davagni Dāna* trade. Deforestation leads to the release of large amount of bio-mass carbon into the global atmosphere where it combines to form carbon dioxide-the gas, that is accounting for almost half of the green house effect. It also releases significant quantities of two other potent greenhouse gases, methane and nitrous oxide.[38]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

14. *Saraḥ-Śoṣaṇa Karma*: (Work involving the use of drying up streams, rivers, lakes etc.) This is explained as drawing off the water from lakes, tanks and water courses so that they dry up and can be sown with crops, thus all forms of aquatic life are destroyed. As per Lord Mahavira this trade causes injury to water bodied beings and other mobile beings life which reside in the water.

15. *Asati poṣaṇa Karma* : (Work involving breeding, rearing or nourishing birds, animals etc.) Hemachandra[39] supplements this to include the treeding and keeping of destructive animals and birds such as parrots, mynahs, peacocks, cocks, cats, dogs and monkeys. Scientific research highlights that ākeeping of cats may cause the disease of Rabies keeping of cats may cause cat scratch fever due its fungus. Keeping of Monkey may spread malaria due to protozoa. Parrots keeping may result into psithacosis disease.[40] Lord Mahavira's view behind the restriction of this profession was that to give nourishment to the non-restrain animal beings is equal to encourage violence.

Today we see that due to rapid technological development of world symbolised by heavy industrialization, urbanization, mechanized agriculture, hydropower, thermal power and nuclear power, there have been successive destruction of the global eco-system. It is merely a development with destruction motivated by short term, quick, economic and political gains without regard to ecology. The 15 professions restricted by Lord Mahavira although encourages economic growth at the same time causes heavy environmental pollution. Even Lord Buddha also restricted five such professions namely 1. *Saṭha vāṇijja* (arms) 2. *Satta vāṇijja* (living beings) 3. *Māṁsa vāṇijja* (flesh), 4. *Majja vāṇijja* (Honey) and 5. *viṣa vāṇijja* (poison) because these professions cause high violence.[41] because the economic principle is maximum demand, maximum production, maximum consumption and maximum profit. Due to this maxim, where economy rises, ecology tends to decline. There is a wide disagreement among the economists and ecologists on the stralegies of development.

Economist's beleive in 'Quick short term gains' disregarding ecological consequences. Rapid economic development programmes do more harm to enviornment, where as ecologists want to maximise long term benefits slow but sustainable. The ecological impacts of one sided economic development can be seen in the form of 5 D's syndrome i.e. drought, deforestation, desertification, deluge and disease.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Conclusion

Jain acharyas possessed farsight and prescribed business ethics for the householders which can, not only solve the problems of ecology and economics but also simultaneously can give solution to the ever increasing problems of L.P.G. i.e. Liberalization, Privatization and Globalization. Acharanga sutra, the first Jain canonical text in which Lord Mahavira emphasized, '*Je logaṁ abbhāhikkhaī, se attāṇam abbāhikkaī*'[42] i.e; the denial of the existence of the six classes of beings will be tantamount to the denial of the existence of the self.ä One cannot safeguard one's own existence by obliterating the existence of others. The Jain view asserts the principal of interdependence. So the fifteen professions restricted by Lord Mahavira has a social relevance in the context of Global environment preservation and ecological balance.

References:

1. *Uvāsagdasāṇga Sūtra*, ed. by Madhukar Muni. Shri Agam Prakasana Samiti Bhavara, 1980; *Yoga Sastra of Hemachandra.* Bibliotheca Indica, no. 172, Calcutta, 197-21, 3.100.101,
   Angār-vaṇa-sākāta-bhātaka-sphotjīvīkā,
   Danta-Laksha-rasa-keśa-viṣavānijyakani ca. iii 100
   yantrapida nirlanchanama-satiposanam Tathā 1,
   Davadāna Saraḥ sosa iti pancadaśa tyajeta. iii 101.
2. Haribhadra, Commentary on *Āvaśyaka Sūtra.* Bombay, 1916. p. 829.
3. *Yoga Śāstra* of Hemachandra. iii. 102, Aṁgāra bhrastkaranam kumbhayah svarnakarita, thatharatvestkapakaviti hyngarajivika.
4. Rajiv K. Sinha - *Development Without Destruction.* Environmentalist Publisher, Jaipur, 1994. p. 146
5. R.M., Lodha- *Environmental Essays.* Ashish Publishing House. Delhi, 1991. p. 191.
6. Rajiv K., Sinha - *Development Without Destruction.* Environmentalist Publisher. Jaipur. 1994. p. 10.
7. Legget Jeremy (ed.) - *Global Warming - The Green-peace Report.* Oxford University Press, Oxford, 1990. p. 150.
8. *Yoga Śāstra* of Hemachandra, p. iii. 104,
   Śākatoksalulayostra-kharāśvataravājinaṁ,
   Bharasya vahanad vrttirbhaved bhatakajīvikā.
9. Rajiv K., Sinha- *Development Without Destruction.* Environmentalist Publisher, Jaipur, 1994. p. 95.
10. Ibid, p. 97.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

11. Legget Jeremy (ed.) *Global Warming - The Green-peace Report*, Oxford University Press, Oxford, 1990. p. 267.
12. Ibid, p. 127.
13. *Avasyaka-sutra* with commentary of Haribhadra. Agamodaya Samiti Siddhanta Samgraha, no. 1, Bombay, 1916. p. 8296.
14. *Yoga śāstra* of Hemachandra, p. iii. 106.
Saraḥ kūpādikhanan silakutthana karmabhiḥ,
Prthivyarambhasambhūtairjivanam sphotajivikā.
15. Rajiv K. Sinha- *Development Without Destruction.* Environmentalist Publisher, Jaipur, 1994. p. 6.
16. *Yoga Śastra* of Hemachandra, iii. 107.
17. As quoted by Robert Williams, in his book, *Jaina Yoga.* London, 1963. p. 119.
18. Rajiv K. Sinha- *Development Without Destruction.* Environmentalist Publisher, Jaipur, 1994. p. 5.
19. Maneka Gandhi- *Head and Tails.* The Other India Press. Mapusa Goa, 1994. p. 52.
20. Ibid, p. 53.
21. *Yoga Śāstra* of Hemachandra, iii. 109.
22. As quoted by Robert Williams, in his book, *Jaina Yoga.* London, 1963. p. 119.
23. Maneka Gandhi- *Head and Tails*, The Other India Press, Mapusa Goa, 1994. p. 56.
24. Ibid, p. 3.
25. Ibid, p. 7.
26. Ibid, p. 7.
27. As quoted by Robert Williams, in his book, *Jaina Yoga.* London, 1963. p. 119.
28. *Yoga Śāstra* of Hemachandra, iii. 109,
Viṣāstra halayantrayoharitālādivastunah,
Vikrayo jīvitagnasya viṣvāṇijyamucayate.
29. Rajiv K. Sinha - *Development Without Destruction.* Environmentalist Publisher, Jaipur, 1994. p. 6.
30. R.M. Lodha - *Environmental Essays.* Ashish Publishing House, Delhi, 1991. p. 22.
31. *Yoga Śāstra* of Hemachandra, iii. 108.
Lakshamanaḥ silānilīdhātakītaṇkanādinḥ,
Vikrayaḥ papsadanṃ Lākṣā vāṇijyamucyate.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

32. M.S. Sethi, Indergeet Kaur Sethi, *Understanding Our Environment.* p. 233.
33. Maneka Gandhi- *Head and Tails.* The Other India Press, Mapusa Goa, 1994. p. 54.
34. Daśvaikālika Sūtra, 6.10
35. *Yoga Sastra* of Hemachandra, iii. 111,
    Tileksusarṣaperainḍa-jalayantrādipīdanaṁ,
    Dalatailasya ca krtiryantrapidā prakīrtitā.
36. As quoted by Robert Williams, in his book, *Jaina Yoga.* London, 1963. p. 120.
37. *Āvaśyaka-sūtra* with commentary of Haribhadra, Agamodaya Samiti Siddhanta Samgraha, no. 1, Bombay, 1916. p. 830 a.
38. Legget Jeremy (ed.) - *Global Warming - The Green-peace Report.* Oxford University Press, Oxford, 1990. p. 105.
39. *Yoga Śāstra* of Hemachandra, iii. 114,
    Vyasanāt punyabuddhyā vā Davadānaṁ bhaved dvidhā,
    Saraḥ śoṣaḥ saraḥ sindhurhdaderambusamplavaḥ.
40. R.M., Lodha - *Environmental Essays.* Ashish Publishing House, Delhi, 1991. p. 193.
41. *Aṇguttara Nikāya,* p. 5.
42. *Ācārāṇga Sūtra,* 1.5.5.5.

BIBLIOGRAPHY

ORIGINAL TEXTS

Ācārāṇga Bhāṣhyaṃ. ed. by Acharya Mahaprajna. with text, Sanskrit commentary, Hindi translation, comparative notes, topics in text and commentary and various appendices. Jain Vishva Bharati Institute. Ladnun. 1994.

Āvaśyaka-sūtra with commentary of Haribhadra. Āgamodaya Samiti Siddhānta Samgraha, no. 1. Bombay, 1916.

Aṇguttara Nikāya. ed. by Bhikkhu J. Kashyap. Pali Publication Board, Motilal Banarasidas Distributor, Bihar, 1960.

Upāsakadasāṇga Sūtraṁ. ed. by Indrachand Sastri. and translated by Atmaramji. Acarya Shri Atmaram Jain Prakasana Samiti, Ludhiyana, 1st edn 1964.

Upāsakadasānga Sūtra. ed. by Mishrimalji Maharaja Madhukara. with text, Hindi translation, classified list of topics and various appendices. Shri Agama Prakasana Samiti, Byavara, 1980.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Yoga Śāstra of Hemachandracharya. ed. by Surendra Bothara and translated by A.S. Gopani. Prakrit Bharati Academy, Prakrit Bharati Pushpa-63, Jaipur, 1st edn. 1989.

Yoga-Śāstra of Hemachandra. Bibliotheca India, no. 172. Calcutta, 1907-21.

Yoga-shāstraṁ of Kalikāla Sarvagya Hemachandraharya. with svopagya vivaraṇa, Shri Jaina Dharma Prasāra Sabhā, Bhavanagar, 1926.

GENERAL BOOKS

Gandhi, Maneka, *Head and Tails.* The Other India Press, Mapusa Goa, 1994.

Lodha, R.M., *Environmental Essays.* Ashish Publishing House, Delhi, 1991.

Legget, Jeremy (ed.), *Global Warming. The Green-peace Report.* Oxford University Press, Oxford, 1990.

Sinha, Rajiv K., *Development Without Destruction.* Environmentalist Publisher, Jaipur, 1994.

Williams, R., Jaina Yoga. *A Survey of the Mediaeval Sravakacaras.* Motilal Banarasidass Publishers, Delhi, 1998.

Jain Vishva Bharati
Ladnun - 341 306
(Rajasthan)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

Postal Department : NUR 08 R.N.I. No. 28340/75

नवीनता की सार्थकता

नई सदी का प्रवेश नए संकल्पों के साथ हो,
तभी इस 'नया' शब्द की सार्थकता हो सकती है।

1. मैं संयमप्रधान जीवनशैली का विकास करूँगा।

2. मैं समताप्रधान जीवनशैली का विकास करूँगा।

3. मैं सदाचारप्रधान जीवनशैली का विकास करूँगा।

ये तीन संकल्प नई शताब्दी अथवा नई सहस्राब्दी में
विद्यमान इस 'नया' शब्द को सार्थकता दे सकते हैं।

- अनुशास्ता आचार्य महाप्रज्ञ

प्रकाशक - सम्पादक - डॉ. मुमुक्षु शान्ता जैन द्वारा जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ
के लिए प्रकाशित एवं जयपुर प्रिण्टर्स, जयपुर द्वारा मुद्रित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org